सिद्ध काव्य की लोकदृष्टि

SIDDHA KAVYA KI LOKDRISHTI

[FOLK VISION OF SIDDHA POETRY]

(पी-एच. डी. (हिन्दी) की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध)

शोध निर्देशक	सह शोध निर्देशक	शोधार्थी
रमन प्रसाद सिन्हा	प्रो. वीर भारत तलवार	प्रकाश कुमार

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली 110067

2018

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated : 20/07/2018

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D Thesis entitle SIDDHA KAVYA KI LOKDRISHTI [FOLK VISION OF SIDDHA POETRY] by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other university/Institution.

RAMAN PRASAD SINHA

(Supervisor) CIL/SLL&CS/JNU

PRAKASH KUMAR

(Research Scholar)

PROF. VIR BHARAT TALWAR (Retd.)

(Co. Supervisor) CIL/SLL&CS/JNU

PROF. GOBIND PRASAD

(CHAIRPERSON) CIL/SLL&CS/JNU

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217, Telefax: (91-011) 26704217
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

अनुक्रम

		पृष्ठ संख्या
भूमिका		
पहला अध्याय :	हिन्दी की आरम्भिक कविता और सिद्ध काव्य	1.1 - 1.17
1.1	सिद्ध काव्य का साहित्यिक परिदृश्य	
1.2	आदिक़ालीन जैन अपभ्रंश काव्य	
1.3	विद्यापति की पदावली	
दूसरा अध्याय :	सिद्ध काव्य का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य	2.1 - 2.19
2.1	त्रिपक्षीय संघर्ष के चरण	
2.2	भारतीय सामन्तवाद तथा सिद्ध काव्य	
2.3	भक्ति की विचारधारा तथा सिद्ध काव्य	
तीसरा अध्याय :	सिद्ध काव्य की विविध व्याख्याएँ	3.1 - 3.16
3.1	इतिहासकारों की व्याख्या	
3.2	बांग्ला विद्वानो की व्याख्या	
3.3	हिन्दी के विद्वानो की व्याख्याएँ	
3.4	तमिल सिद्धार	
चौथा अध्याय :	सिद्ध काव्य की लोक दृष्टि	4.1 - 4.40
4.1	जाति प्रथा तथा सिद्ध काव्य	
4.2	लिंग, पितृसत्ता तथा सिद्धों की कविता	
4.3	सिद्धों की साधना पद्धति	
4.4	सिद्धों का परिचय	
पाँचवाँ अध्याय :	सिद्ध कविता का रूप विधान	5.1 - 5.25
5.1	अपभ्रंश साहित्य की विभिन्न शैलियाँ	
5.2	सिद्ध काव्य की शैलियाँ	
उपसंहार		
परिशिष्ट :	चर्यागीतिकोश का मूल पाण्डुलिपि से नागरी में लिप्यांतरण	
संदर्भ ग्रंथ सूची		

भूमिका

पी-एच डी. के शोध प्रबंध के लिए जब मैंने सिद्ध काव्य को चुना, तब यह अंदाज़ा नहीं था कि इस विषय पर काम करना इतना मुश्किल होगा । सबसे बड़ी मुश्किल हुई, चर्यागीति के मूल पाठ तक पहुँचने में । अब तक चर्यागीतिकोश के हिन्दी में जितने लिप्यांतरण हुए हैं, वह आधुनिक मैथिली, भोजपुरी, मगही, बज्जिका आदि बोलियों या भाषाओं के संदर्भ में नहीं बल्कि बांगला के संदर्भ में ही हुई है । नतीजतन दूसरी भाषाओं में प्रयुक्त होने वाले सामान्य शब्द बांगला में न हो पाने की स्थिति में उसका रहस्यवादी साधनात्मक अर्थ निकाल लिया गया है। इससे सिद्ध काव्य को समझने में मुश्किल पैदा हुई है ।

यह तो स्पष्ट है कि बांगला भाषा ज़बरदस्ती अपने रिश्ते सिद्ध काव्य से जोड़ती है । इस सम्बंध में हजारी प्रसाद द्विवेदी के कथन को यहाँ दुबारा उद्धृत करने की कोई ज़रूरत नहीं है । बांगला के 'विद्वानो' ने अब तक अपनी सारी ऊर्जा इस बात को सिद्ध करने में लगायी है कि किस तरह सिद्ध काव्य पुरानी बांगला लिपि में है और बांगला भाषा की शुरुआत इसी से हुई है । उन्होंने इस काव्य की व्याख्या के लिए कोई मौलिक प्रयास नहीं किए । व्याख्या के लिए वे चर्यागीतिकोश के टीकाकार मुनिदत्त के आभारी रहे हैं । हम यह जानते हैं कि हिन्दू धर्म की वैष्णव शाखा ने सिद्ध संतों की रचनाओं को रहस्यमयी शब्दावली में लपेटकर उसे पहचानने लायक नहीं छोड़ा । यहाँ तक कि इस फेर में हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान भी आ गए, जब वे लिखते हैं -

'पदों की योजना इस प्रकार की गयी है कि ऊपर से कुत्सित लोक विरुद्ध अर्थ प्रकट हों, या परस्पर विरोधी अनर्थक बातें न प्रतीत हों, किंतु साधना के रहस्यात्मक शब्दों की जानकारी प्राप्त होने पर साधनात्मक विशुद्ध अर्थ स्पष्ट हो जाए।" न जाने किस 'साधना' के 'रहस्यात्मक' लगने वाले यह शब्द सिद्ध काव्य को एक रचना मानने से इनकार करते हुए उसे तंत्र-मंत्र में बदल देते हैं । सिद्ध काव्य को हमेशा ब्राह्मणवादी पूर्वाग्रहों के नज़रिए से देखा गया है । इस कारण इस काव्य की व्याख्या पूर्वाग्रहयुक्त और अधूरी ही रही है । हिन्दी साहित्य के आदिकाल को समझने के लिए ही नहीं, बल्कि समूचे पूर्वमध्यकाल को समझने के लिए, सिद्ध काव्य की समीक्षा ज़रूरी है।

सिद्ध काव्य पूर्वी अपभ्रंश भाषा में लिखा गया था । इसका रचनाकाल लगभग पाँच सौ वर्षों तक फैला हुआ है । इस समूचे काल में वर्तमान बिहार, बंगाल, उड़ीसा, आसाम आदि क्षेत्रों में ये सिद्ध फैले हुए थे । ये सामान्य लोगों के बीच रहते हुए, अपने श्रम कार्य के साथ साहित्य रचना में लगे रहते थे । इस शोध के पहले अध्याय में हिन्दी की आरम्भिक कविता के संदर्भ में सिद्ध काव्य को रखने की कोशिश की गयी है । ख़ासकर जैन अपभ्रंश साहित्य तथा नाथ और संत साहित्य के संदर्भ में सिद्ध साहित्य को रखकर देखने से उस युग की साहित्यिक पृष्ठभूमि को समझने में मदद मिलेगी । इसके साथ साथ भाषा और शैली के बारे में किसी राय बनाने में यह पृष्ठभूमि मदद करेगी।

दूसरे अध्याय में पूर्व मध्यकालीन युग के ऐतिहासिक यथार्थ को समझते हुए, इनकी रचनाओं का अध्ययन किया गया है । यह समय सामन्तवाद तथा उसकी विचारधारा भक्ति के प्रसार का है। उसके साथ अपभ्रंश साहित्य का सम्बंध साफ़ साफ़ दिखता है। सिद्ध काव्य में भक्ति और सामन्तवाद का साफ़-साफ़ विरोध दिखायी देता है। वर्ण व्यवस्था और कर्मकाण्ड के साथ पितृसत्ता का विरोध भी उनके काव्य में झलकता है। इस अध्याय में इनके अंतरसंबंधों पर बात की गयी है।

तीसरा अध्याय सिद्ध काव्य की अबतक हुई व्याख्याओं पर केंद्रित है। इस अध्याय में बांगला विद्वानो के इस दावे पर विचार किया गया है कि सिद्ध काव्य 'पुरानी बांगला' भाषा में है और इसीलिए उसकी शुरुआत भी इसी से हुई है। इतिहासकारों ने सिद्ध संतों को किस तरह देखा है तथा तंत्र की परम्परा में ये संत कहाँ तक आते हैं इसपर भी विचार किया गया है। अंत में हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों, आलोचकों तथा शोधार्थियों ने इस काव्य के बारे में जो कहा है, उसपर विचार किया गया है।

चौथा अध्याय सिद्ध काव्य की लोकदृष्टि है । इस अध्याय की शुरुआत हिन्दी में लोक की अवधारणा पर विचार करने से लेकर आगे सिद्ध काव्य की अंतर्वस्तु पर विचार किया गया है । उनकी साधना पद्धति पर विचार किया गया है। पितृसत्ता के प्रति उनके नज़रिए पर बात की गयी है और उनके काव्य में प्रेम के विविध रूप पर भी विचार किया गया है। अंत में सिद्धों का परिचय दिया गया है।

पाँचवा अध्याय 'सिद्ध कविता का रूप विधान' है। इसमें सिद्ध काव्य की भाषा और शैली पर विचार किया गया है। जिसे हम हिन्दी साहित्य का आदिकाल कहते हैं उस समय सिद्ध काव्य से इतर जिस तरह की रचनायें हो रही थी उनकी शैलियों पर भी विचार किया गया है।

परिशिष्ट के रूप में चर्यागीतिकोश का मूल पाण्डुलिपि से नागरी में लिप्यांतरण किया गया है । यह अंश इस शोध का सबसे श्रम साध्य कार्य था । बांगला भाषी विद्वानो ने चर्यागीतिकोश का बांगलाकरण कर रखा है । इसमें मैंने इसे मैथिली, भोजपुरी, मगही आदि भाषाओं के संदर्भ में रखकर देखने की कोशिश की है ।

अंत में अपने शोध निर्देशक रमन प्रसाद सिन्हा का आभार कि इतने विलम्ब होने के बावजूद उन्होंने इस शोध को अपनी सहमति दी । उनकी उदारता ही है कि यह शोध पूरा हो सका । मेरे सह शोध निर्देशक प्रो. वीर भारत तलवार ने हमेशा की तरह मेरा हौसला बढ़ाया और मेरे अपनी सहमति दी । उनके जैसे शोधार्थी का शिष्य होना हमेशा से मेरे लिए गौरव की बात रही है।

सिद्ध साहित्य की उपलब्ध रचनाओं को मुख्यतः दो भागों में बाँटा जा सकता है - दोहाकोष और चर्यागीतिकोश। अब तक हिन्दी साहित्य के भीतर इन रचनाओं का नामोल्लेख भर होता रहा है, इनकी कोई व्याख्या नहीं मिलती। सिद्ध साहित्य का परवर्ती संत साहित्य पर साफ़ प्रभाव देखा जा सकता है। इसे हिन्दी के विद्वान स्वीकार भी करते हैं, फिर भी किसी ने अब तक इस साहित्य की चर्चा क्यूँ नहीं की यह बात समूचे हिन्दी साहित्य के विद्वानो की मंशा पर ही सवाल खड़े कर देती है।

अध्याय 1

हिन्दी की आरम्भिक कविता और सिद्ध काव्य

साहित्य के इतिहास-लेखन में देश, काल और परिस्थिति का परिप्रेक्ष्य वह प्रस्थान बिंदु होता है जिससे होकर कोई साहित्यिक कृति किसी काल विशेष का इतिहास कहती है । जहाँ इतिहास और साहित्य दोनों के ही परस्पर भिन्न परिप्रेक्ष्य होते हैं, जिनके बीच तालमेल से ही किसी काल विशेष के साहित्येतिहास को पुनरसृजित किया जाता है । शोध के दौरान इतिहास-लेखन की अनेक विधियों को इसीलिए अपनाया जाता है । इतिहास में काल-विभाजन और काल- निर्धारण भी इसी संदर्भ में प्रासंगिक है । अलग - अलग समयों में किसी साहित्यिक प्रवृत्ति की शुरुआत, उसमें आया उतार-चढाव, विधाओं और रूपों में आया बदलाव इत्यादि भी साहित्येतिहास लेखन की सीमाओं का निर्धारण करते है । परन्तु यहाँ यह भी याद रखने की ज़रूरत है कि किसी काल विशेष में उपजी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ, एकाएक खत्म नहीं हो जाती हैं, भले ही उनमें व्यापक परिवर्तन दिखाना सम्भव हो । किसी काल विशेष में प्रतिनिधि रही साहित्यिक प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे परिवर्तित होती हुई ही विलुप्त होती हैं । जब इनकी जगह कुछ नवीन प्रवृत्तियाँ मुखर हो उठती हैं और धीरे-धीरे उस युग की प्रतिनिधि साहित्यिक प्रवृत्ति के रूप में पहचानी जाने लगती हैं ।

हिन्दी साहित्य की शुरुआत कब हुई यह प्रश्न सदा से हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों के बीच विवाद का एक विषय रहा है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार -

“प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है । उस समय जैसे 'गाथा' कहने से प्राकृत का बोध होता था वैसे ही 'दोहा' या 'दूहा' कहने से अपभ्रंश या प्रचलित काव्यभाषा का पद्य समझा जाता था। अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौध्दों की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है । मुंज और भोज के समय (संवत् 1050) के लगभग तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में भी पाया जाता है । अत: हिन्दी साहित्य का आदिकाल संवत् 1050 से लेकर संवत् 1375 तक अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय के कुछ पीछे तक माना जा सकता है ।

“……. आदिकाल की इस दीर्घ परंपरा के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति को चिन्हित नहीं किया जा सकता है । धर्म, नीति, श्रृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं । इस अनिर्दिष्ट लोकप्रवृत्ति के उपरांत जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों का प्रारंभ होता है तब से हम हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई पाते हैं। राजाश्रित कवि

और चारण जिस प्रकार नीति, श्रृंगार आदि के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे, उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे।"[1]

हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों में आदिकाल के काल विभाजन और नामकरण को लेकर जो मतभेद रहा है, वह किसी भी अन्य काल की तुलना में अधिक मुखर और पुराना है । जार्ज ग्रियर्सन, मिश्रबंधु, रामचंद्र शुक्ल, रामकुमार वर्मा आदि इतिहासकार अपभ्रंश भाषा के उत्तरवर्ती रूप को हिन्दी का आदिम रूप मानते हुए उसकी शुरुआत संवत 700 से मानते है । जार्ज ग्रियर्सन ने हिन्दी की साहित्यिक परिधि को भाषा की दृष्टि से निर्धारित किया; जिससे हिन्दी साहित्य में न तो संस्कृत को और न ही अरबी फारसी मिश्रित उर्दू को समाहित किया जा सकता था । स्पष्टत: इस कारण अपभ्रंश भाषा में की गयी साहित्यिक रचनाएँ भी इस इतिहास से बाहर ही रखे गए ।

आचार्य शुक्ल ने आदिकाल को वीरगाथा काल नाम देते हुए यह लक्षित किया कि इस काल में दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं - अपभ्रंश भाषा की और देशभाषा की । उन्होंने कहा कि अपभ्रंश की पुस्तकों में से कई तो जैन धर्म के तत्व निरूपण सम्बन्धी ग्रन्थ हैं जो 'शुद्ध साहित्य' की कोटि में नहीं आते । साहित्यिक पुस्तकें केवल चार हैं - विजयपाल रासो, हम्मीर रासो, कीर्तिलता, कीर्तिपताका । इसके साथ देश भाषा काव्य की 8 पुस्तकें प्रसिद्ध हैं - खुमान रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, जयचंद प्रकाश, जयमयंक जस चन्द्रिका, परमालरा सो, खुसरो की पहेलियाँ और विद्यापति की पदावली । आचार्य शुक्ल का मत है कि -

"इन्ही 12 पुस्तकों की दृष्टि से आदिकाल का लक्षण- निरूपण और नामकरण हो सकता है । इन पुस्तकों में से अंतिम दो और बीसलदेव रासो को छोड़कर शेष सब ग्रन्थ वीरगाथात्मक ही है । अतः आदिकाल का नाम वीरगाथा काल ही रखा जा सकता है[2]।"

शुक्ल जी की यह व्याख्या मध्यकालीन इतिहास लेखन सम्बंधी उन मान्यताओं पर आधारित थी, जो भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना के परिणाम के रूप में हिन्दी साहित्य के आदिकाल की रचनाओं को देखती है । इसके अनुसार, राजाश्रित कवि और चारण कवि, जिस प्रकार नीति-श्रृंगार के फुटकल दोहे राजसभाओं में सुनाया करते थे, उसी प्रकार अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रमपूर्ण चरितों या गाथाओं का वर्णन भी किया करते थे । राजाश्रित कवि अपने राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों के साथ किया करते थे और अपनी वीरोल्लास भरी कविताओं से वीरों को उत्साहित किया करते थे । इस तरह की रचनाओं को हम दोनों रूपों में पाते हैं- मुक्तक के रूप में भी और प्रबंध के रूप में भी । यही प्रबंध परंपरा रासो के नाम से भी पाई

---

[1] हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ भूमिका।

[2] वही।

जाती है । वीरगीत के रूप में मिले इन्हीं बीसलदेव रासो जैसे ग्रंथों के आधार पर इस काल को वीरगाथा काल कहा गया ।

हिन्दी साहित्य के एक दूसरे इतिहासकार रामकुमार वर्मा ने इस काल को 'संधि काल' नाम दिया है । जबकि पहली बार राहुल सांकृत्यायन ने इस काल को सिद्ध-सामंत काल कहते हुए सिद्ध काव्य को हिंदी-काव्य का अभिन्न अंग माना । वही दूसरी ओर आचार्य रामचद्र शुक्ल व उनसे सहमत सहित्येतिहास लेखक संवत 1000 के आस-पास 'वास्तविक हिन्दी भाषा' व साहित्य की शुरुआत मानते हुए भी इतना ज़रूर कहते हैं कि -

"सिद्धों में 'सरह' सबसे पुराने अर्थात विक्रम संवत ६९० के हैं । अतः हिन्दी काव्यभाषा के पुराने काव्यरूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है
[3]।"

इसीलिए अब इस बात पर एक सामान्य सहमति है कि 7वीं से 10वीं शताब्दी के दौरान जो साहित्य सामग्री उपलब्ध होती है, उसे हिन्दी साहित्य की पूर्वपीठिका मान लिया जाये । अपभ्रंश की इन रचनाओं में जैन, नाथ व सिद्ध साहित्य को सम्मिलित किया जा सकता है ।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने पहली बार हिन्दी साहित्य के इतिहास का कालगत एवं प्रवृत्तिगत दोनों रूपों में वर्गीकरण किया । उन्होंने सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य को तीन भागों में बाँट कर उसकी सीमा का निर्धारण किया - वीरगाथाकाल (विक्रमी संवत 1050 से 1375 तक), भक्तिकाल (विक्रमी संवत 1375 से 1700 तक), रीतिकाल (विक्रमी संवत 1700-1900) और आधुनिक काल (विक्रमी संवत 1900 से अब तक) । इसके साथ-साथ हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हुए उन्होंने इसको 4 भागों में विभक्त किया । जहाँ उन्होंने आदिकाल को वीरगाथा काल का नाम दिया, वही मध्यकाल को दो भागों में विभक्त किया - पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल और उसे उन्होंने 'भक्तिकाल' और 'रीतिकाल' का नाम दिया । इसके बाद के बचे काल को उन्होंने आधुनिक काल या गद्यकाल का नाम दिया ।

हम पीछे इस बात का उल्लेख कर आए हैं कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने जिन पुस्तकों के आधार पर आदिकाल का नामकरण वीरगाथा काल किया वे हैं - 1. 'विजयपाल रासो', 2. 'हम्मीर रासो', 3. 'कीर्तिलता', 4. 'कीर्तिपताका', 5 'ख़ुमान रासो', 6. 'बीसलदेव रासो', 7. 'पृथ्वीराज रासो', 8. 'जयचंद्र प्रकाश', 9. 'जयमयंक जस चंद्रिका', 10. 'परमाल रासो', 11. 'खुसरो की पहेलियाँ', और 12. विद्यापति पदावली । लेकिन जब इन पुस्तकों के बारे में छान-बीन की गयी, तो पाया गया कि अब तक जो दावे किए जाते रहे हैं, उनमें बहुत ज़्यादा सच्चाई नहीं है । इन पुस्तकों की उपलब्ध

---

[3] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १२।

पाण्डुलिपि बहुत बाद की हैं । शुक्ल जी के वीरगाथाकाल सम्बंधी दावों की परख हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने की और वे अलग निष्कर्षों पर पहुँचे । हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है -

"इधर हाल की खोजों से पता चलता है कि जिन बारह पुस्तकों के आधार पर शुक्लजी ने इस काल की प्रवृत्तियों का विवेचन किया था, उनमें से कई पीछे की रचनाएँ हैं और कई नोटिस मात्र हैं और कई के सम्बंध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता की उसका मूल रूप क्या था।"[4]

शुक्ल जी की स्थापनाओं में रह गयी कमियों को उजागर करके हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने एक तरह से मधुमक्खी के छत्ते में हाथ डाल दिया । शुक्ल जी की परम्परा में हुए रामविलास शर्मा जैसे आलोचकों ने हज़ारी प्रसाद द्विवेदी को कभी माफ़ नहीं किया । द्विवेदी जी सिद्ध काव्य की परम्परा में ही हिन्दी के निर्गुण काव्य को देखते थे । ख़ासकर कबीर पर तो सिद्ध संतों का साफ़-साफ़ प्रभाव देखा जा सकता है । यह बात हिन्दी के बहुत से आलोचकों और इतिहासकारों को पसंद नहीं आयी । ऐसे इतिहासकार शुक्ल जी की परम्परा पर चलते हुए सिद्ध और जैन साहित्य को 'साम्प्रदायिक' साहित्य घोषित कर चुके थे और इनकी रचनाओं को 'शुद्ध साहित्य' नहीं मानते थे ।

सिद्ध काव्य का रचनाकाल लगभग चार सौ वर्षों तक विस्तृत है । यहाँ तक कि जिन्हें हम नाथ संतों के रूप में जानते है, उनमें से कई संत चौरासी सिद्धों की सूची में भी पाए जाते हैं । इस समय को हम सुविधा के लिए 'आदिकाल' के नाम से जानते हैं । हालाँकि आदिकाल' नामकरण भी बहुत से सवाल खड़े कर देता है । इन सवालों को थोड़ी देर के लिए छोड़ते हुए इस समय के साहित्य की सहित्यिकता पर विचार करना ज़रूरी है । आदिकाल के साहित्यिक परिदृश्य पर विचार करते हुए हज़ारी प्रसाद द्विवेदी जी लिखते हैं -

"इधर जैन अपभ्रंश चरित काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है, वह सिर्फ़ धार्मिक सम्प्रदाय के मुहर लगाने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है । स्वयम्भू, चतुर्मुख, पुष्पदंत और धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्यक्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते । धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती । यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का 'रामचरितमानस' भी साहित्यिक क्षेत्र में अविवेच्य हो जाएगा और जायसी का 'पद्मावत' भी साहित्य-सीमा के भीतर में नहीं घुस सकेगा । वस्तुतः लौकिक निजन्धरी कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की चिराचरित प्रथा है । कभी-कभी ये कहानियाँ पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों के साथ घुला दी जाती हैं । यह तो न जैनों की निजी विशेषता है, न सूफ़ियों की। ..... केवल नैतिक और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रंथों को साहित्य सीमा से बाहर निकलने लगेंगे तो हमें आदिकाव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी रामायण से

---

[4] हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग ३, पृष्ठ ५५५।

भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा और जायसी को भी दूर से दण्डवत करके विदा कर देना होगा ।"[5]

सिद्ध काव्य का साहित्यिक परिदृश्य

11वीं शती तक हिन्दी अपभ्रंश के असर से मुक्त हो चुकी थी । इसके बाद नाथ सम्प्रदाय के कवियों को हम न सिर्फ़ उत्तर भारत बल्कि पश्चिम और दक्षिण भारत तक विस्तृत पाते हैं । इस समय भक्ति आन्दोलन से प्रभावित साहित्य का प्रसार पूरे देश में आरम्भ हो गया था और इसका असर हिन्दी पर भी पड़ा । यही समय भक्ति परक रचनाओं की शुरुआत का भी है । इसे कुछ साहित्येतिहासकार सांस्कृतिक और साहित्यिक चेतना के रूप में एक नये युग का आरम्भ मानते हैं । यह प्रवृत्ति आगे कई सौ वर्षों तक चलती रही । 17वीं शती तक आते-आते साहित्य की मुख्य प्रवृत्ति में बड़ा बदलाव आया और भक्तिभावना की प्रधानता के स्थान पर श्रृंगार व अलंकरण की प्रवृत्ति ने जगह ले ली ।

साहित्य में किसी भी काल की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का सहज ही प्रतिफलन होता है । युगीन परिस्थितियों के अनुसार साहित्यिक प्रवृत्तियाँ परिवर्तित होने लगती हैं । इसके आधार पर ही किसी साहित्य का कालविभाजन होता है और तदनुरूप उसका नामकरण किया जाता है । एक काल में जिस प्रवृत्ति की अधिकांश रचनाएँ उपलब्ध होती हैं उनको विशेष रूप से ध्यान में रखा जाता है परन्तु इसका अर्थ नहीं कि इस प्रवृत्ति के अतिरिक्त अन्य कोई प्रवृत्ति साहित्य में उपलब्ध नहीं होती, उसका चित्रण नहीं मिलता । एक ही काल में अनेक प्रवृत्तियाँ प्रचलित रहती हैं । किसी प्रवृति की प्रधानता व व्यापकता के आधार पर सीमा निर्धारण व नामकरण किया जाता है । किसी भी युग का नामकरण उसकी मूल साहित्यिक चेतना या कहे कि साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुरूप ही होना चाहिए । इसके अतिरिक्त किसी राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृत्ति को भी आधार बनाया जा सकता है । इसे बड़े ही स्पष्ट और सरल रूप में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में इस तरह लिखा है -

"जिस कालखंड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखाई पड़ी है, वह एक अलग काल माना गया है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरुप के अनुसार किया गया है ।"

जिस समय हिन्दी साहित्य की शुरुआत हुई, उस समय भारतीय समाज और राजनीति की स्थिति बड़ी दिलचस्प थी । सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत में कोई केंद्रीय सत्ता नहीं रह गयी थी । एक केन्द्रीय शक्ति के अभाव में अलग-अलग राजवंशों ने अपनी सत्ता के प्रसार की कोशिशें शुरू कर दी । इसका परिणाम था - त्रिपक्षीय संघर्ष । इसी समय निरंतर विदेशी हमले भी हो रहे थे - पहले हूणों के और फिर मुस्लिम आक्रमणकारियों के । एक केन्द्रीय शक्ति के अभाव में

---

[5]हजारी प्रसाद द्विवेदी रचनावली, भाग ३, पृष्ठ ५५६-५५७।

नए राजा और रजवाड़े खड़े हो गए । इन अलग-अलग राजवंशों ने अपनी सत्ता के प्रसार के उद्देश्य से आपस में युद्ध किये । मुसलमानों ने भी भारत पर अपना अधिकार जमाना शुरू कर दिया । इस अफ़रातफ़री के समय को साहित्येतिहासकारों ने अपने-अपने तरीक़े से देखा है । इस पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे । यहाँ हिन्दी साहित्य के आदिकाल और उसके इतिहासलेखन को लेकर थोड़ी चर्चा ज़रूरी है ।

हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने काल-निर्धारण और नामकरण के लगातार प्रयास किए । रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्य के आरंभिक काल को दो भागों में विभक्त कर, उनका नामकरण संधिकाल और चारण काल किया । संधिकाल के अंतर्गत उन्होंने सिद्धों व जैन कवियों की रचनाओं को समाहित किया । चारण काल नाम वीरगाथाकाल की तरह चरित काव्यों का द्योतक है । डॉ० वर्मा ने एक ही कालखंड के दो नाम निश्चित किये हैं । संधिकाल से दो भाषाओ- अपभ्रंश और हिन्दी की संधि का बोध होता है । किसी एक कालखंड को दो नाम देना दो भिन्न कालों का ज्ञान कराता है, किन्तु वर्मा जी ने जिस सामग्री के आधार पर इस युग को चारण काल का नाम दिया, वह सामग्री पर्याप्त व प्रामाणिक नहीं थी ।

इस युग के साहित्यिक स्रोतों की गम्भीर जानकारी रखने वाले राहुल सांकृत्यायन ने इस काल को सिद्ध-सामंत काल कहा है और इसका समय आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक माना है । वस्तुतः यह नाम दो काव्यधाराओं को स्पष्ट करता है । इसके बारे में हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं -

“विषय-वस्तु को दृष्टि में रखकर इस काल के लिए राहुल जी ने एक और नाम सुझाया है जो बहुत दूर तक तत्कालीन साहित्यिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करता है । यह नाम है - सिद्ध-सामन्त-काल । इस काल का जो भी साहित्य मिलता है, उसमें सिद्धों का लिखा धार्मिक साहित्य ही प्रधान है । यद्यपि यह साहित्य विशुद्ध काव्य की कोटि में नहीं आ सकता, पर नाना प्रकार की सिद्धियाँ इस काव्य में उसी प्रकार प्रेरणा का विषय रहीं जिस प्रकार परवर्ती काव्य में भक्ति । वस्तुतः काल प्रवृत्ति का निर्ण य प्राप्य ग्रंथों की संख्या द्वारा नहीं निर्णीत हो सकता; बल्कि उस काल की प्रमुख प्रेरणादायक वस्तु के आधार पर ही हो सकता है । प्रभाव उत्पादक और प्रेरणा संचारक तत्व ही साहित्यिक काल के नामकरण का उपयुक्त निर्णायक हो सकता है। फिर ‘सामंतकाल' में ‘सामंत’ शब्द से उस युग की राजनीतिक स्थिति का पता चलता है और अधिकांश चारण जाति के कवियों की राजस्तुतिपरक रचनाओं के प्रेरणास्रोत का भी पता चलता है । ‘सामन्त’ जिस काव्य का प्रधान आश्रयदाता है, उसमें उसकी झूठी-सच्ची विजयगाथाओं और कल्पित-अकल्पित प्रेम प्रसंगों का होना उचित ही है । एक के द्वारा वह वीररस का आश्रय बनता है, दूसरे के द्वारा श्रृंगाररस का आलम्बन । सामन्त को दोनों ही चाहिए । इस प्रकार इस शब्द में इस काल की मुख्य प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का गुण है ।”[6]

---

[6] हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग ३, पृष्ठ ५७० ।

मेरी जानकारी में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहीं भी राहुल सांकृत्यायन के नामकरण को ख़ारिज नहीं किया । यह बहुत बड़ी बात है कि इस युग के नामकरण के अब तक हुए प्रयासों में सबसे गम्भीर सुझाव को हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने पूरी तरह अनदेखा किया है । जब इतिहासकार इस समय को सामन्तवा द का समय मानते हैं तो इसमें किसी को कोई ख़ास आपत्ति नहीं होती । आलोचक यह भी स्वीकार करते हैं कि 'भक्ति' दरअसल सामन्तवाद की विचारधारा है । लेकिन यह एक विडम्बना ही कही जायगी कि हिन्दी साहित्य के इतिहासलेखन, काल विभाजन और नामकरण के दौरान सामन्तवाद शब्द पूरी तरह से वर्जित है ।

अब हम यह जानने का प्रयास करेंगे की सिद्ध काव्य का साहित्यिक परिदृश्य क्या था ? जो दूसरी धाराओं के लेखक इस समय अपनी रचनायें कर रहे थे, उनके विषय क्या थे ? भाषा और विषयवस्तु के स्तर पर आदिकाल की रचनाओं में क्या अंतर और समानताएँ थी । ख़ासकर काव्य के रूप में सिद्धों की रचनाएँ अपने समय की दूसरी रचनाओं से कितनी मिलती-जुलती या विशिष्ट हैं । इस क्रम में सबसे पहले जैन अपभ्रंश साहित्य पर विचार किया जाएगा ।

आदिक़ालीन जैन अपभ्रंश काव्य

अपभ्रंश भाषा में जैन साहित्य इतनी प्रचुर मात्रा में लिखी गयी है कि हम अपभ्रंश साहित्य को दो भागों में बाँट सकते हैं - जैन अपभ्रंश साहित्य और जैनेत्तर अपभ्रंश साहित्य । हम यहाँ जैन अपभ्रंश साहित्य पर विचार करेंगे । उससे पहले यह बात हमें याद रखनी चाहिए कि सिद्ध काव्य की परम्परा हिन्दी साहित्य के इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता है । सिद्ध काव्य का जितना असर हिन्दी साहित्य पर इतना पड़ा है उतना किसी अन्य धारा का नहीं । हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं,

"मध्ययुग के भक्तों के ऐसे अनेक पद मिलते हैं जो कई संतों के नाम से प्रचलित हैं । जो पद कबीर के नाम से चल रहा है वही दादू के नाम से , फिर वही रैदास या अन्य किसी साधक के नाम से भी । ऐसे पदों के विषय में समझना चाहिए कि ये पद पूर्ववर्ती साधकों के अनुभव हैं, जिन्हें परवर्ती साधक या साधकों ने भी स्वीकार कर लिया है । ये भक्त कविता करने के लिए पद नहीं लिखा करते थे, इसलिए इनमें इस प्रकार की सावधानी का अभाव है जो कवि अपनी रचना के अभिनव प्रयोग के लिए अत्यावश्यक समझता है । कबीरदास की यह साखी सहजमत के आचार्य की याद दिला देती है :

जिहि बन सीह न संचरै, पंखी उड़े नहिं जाय ।
रैनि दिवस का ग़म नहीं, तँह कबीर कहा लौ जाइ ।।

सरहपाद की साक्षी है :

जेहि मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाइ पवेश ।
तहि बट चित्त विशाम करु, सरूहे कहिअ उवेश ।।

असल में साखी (साक्षी) का मतलब ही है कि पूर्वतर साधकों की बात पर कबीरदास अपनी साक्षी या गवाही दे रहे हैं । अर्थात इस सत्य का अनुभव ये भी कर चुके हैं ।

".....कबीरदास आदि साधकों ने नाथपंथियों और सहजयानियों के बहुत से शब्द, पद और दोहे ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिए थे । इनमे यत्र तत्र नाम मात्र के परिवर्तन भी हैं । इस प्रकार यह बात स्पष्ट है कि कबीर आदि ने अनेक बातें पूर्ववर्ती साधकों से ग्रहण की थीं, फिर भी कबीर की साधना वही नहीं थी जो इन योगियों या सहजयानियों की थी"[7]।

जैन अपभ्रंश साहित्य में जैन मतावलबियों की धार्मिक भावनाओं का अंकन देखा जा सकता है । परंतु धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति के कारण हम उसे साहित्य से बाहर नहीं कर सकते । तुलसीदास का साहित्य हिन्दू वैष्णव भावनाओं की अभिव्यक्ति का दस्तावेज़ है, लेकिन हम उसे हिन्दी साहित्य की सबसे श्रेष्ठ रचना की श्रेणी में रखते हैं । परंतु दुर्भाग्य से जैन साहित्य पर इस प्रतिमान के आलोक में विचा र नहीं हुआ । आज तक हिन्दी साहित्य के इतिहास में जैन साहित्य को "साम्प्रदायिक" साहित्य के रूप में देखा और रखा जा रहा है[8] । यह सच है कि अपभ्रंश जैन साहित्य के अनेक ग्रंथ धार्मिक प्रकृति के हैं और धार्मिक भावना के कारण ही यह साहित्य अब तक सुरक्षित बचा हुआ है ।

जैन साहित्य को बचाने का श्रेय अगर किसी संस्था को दिया जा सकता है, तो वे है 'अपभ्रंश जैन ग्रंथ भंडार'[9] । जैन साहित्य की सुरक्षा का श्रेय इन्हीं भंडारों को जाता है । किसी ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति करवा कर उसे जैन श्रावकों के पढ़ने के लिए किसी मंदिर के ग्रंथागार को सौंप देना जैन मतावलंबियों के बीच पुण्य का कार्य समझा जाता था । यही कारण है कि इन मंदिरों के ग्रंथागारों में जैन साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध है ।[10]

जैन अपभ्रंश साहित्य केवल रूखे धार्मिक ग्रंथ नहीं हैं, बल्कि ये पर्याप्त सरस रचनाएँ है । यह सम्भव है कि इन रचनाओं की प्रेरणा का श्रोत धार्मिक भावना रही हो लेकिन इन रचनाओं को कविता की श्रेणी में न रखना न सिर्फ़ इनके साथ अन्याय करना होगा बल्कि एक समृद्ध परम्परा से वंचित होना भी माना जाएगा । हेमचंद्र सूरी अपनी रचना 'प्राकृत व्याकरण' में लिखते हैं,

---

[7]हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ६५।

[8] हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल ।

[9] बाद में सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ और भारतीय विद्या भवन जैसे संस्थानो ने इन्हें पुनः प्रकाशित करवाया ।

[10] जयपुर और राजस्थान तथा देश दूसरे भागो में आज भी अप्रकाशित जैन पांडुलिपियाँ मौजूद हैं ।

भल्ला हुआ जो मारिआ, वहिणि महारा कंतु ।
लज्जेज्जतु वयसियहु, जइ भग्गा घर एंतु ।।

इन पंक्तियों को जो ख्याति मिली है, उसका श्रेय आचार्य शुक्ल को जाता है । लेकिन दूसरी जैन रचनायें इतनी भाग्यशाली साबित नहीं हुईं और न ही दूसरे कवि । जैन तथा बौद्धधर्म के प्रवर्तक लोक जीवन को अपना ध्येय मानकर चले थे । धर्म एवं सदाचार की दृष्टि से मानव जीवन को उदात्त बनाने का प्रयत्न इनके साहित्य में साफ़ तौर से देखा जा सकता है । यही कारण है कि इन्होंने सामान्य जन की भाषा को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया । सामान्य लोगों को सम्बोधित करते हुए इन्होंने अपने धार्मिक विचारों को भी एक काव्यात्मक रूप दिया ।

बुद्ध और महावीर दोनो के शिष्यों ने अपने प्रवर्तक के बताए रास्तों को चुना और लोकभाषा को अपनी रचनाओं का माध्यम बनाया । इसके लिए इन्होंने प्राकृत और अपभ्रंश का चुनाव किया । समूचे जैन साहित्य को अगर हम विधाओं के आधार पर विभाजित करें तो वह इस प्रकार होगा -

1. प्रबंध काव्य - (क) पुराण अथवा महापुराण, (ख) चरित साहित्य ।
2. मुक्तक काव्य - (क) जैन आध्यात्मिक भावप्रधान मुक्तक काव्य, (ख) जैन आधिभौतिक भावप्रधान मुक्तक काव्य, (ग) शौर्य एवं श्रृंगार सम्बंधी मुक्तक काव्य ।
3. रूपक काव्य ।
4. कथा साहित्य ।
5. स्फुट काव्य ।[11]

(1) प्रबंध साहित्य

(क) पुराण अथवा महापुराण - जैन साहित्य में 'पुराण' शब्द का मतलब प्राचीन कथा से लिया जाता है । जिस तरह से ब्राह्मणों ने पुराणों की रचना की उसी तरह से जैनियों ने भी पुराणों की रचना की । पुराण में जहाँ किसी एक महापुरुष के जीवन का अंकन होता है, वही महापुराण में अनेक महापुरुषों का । पद्मपुराण में रामायण कथा का और हरिवंश पुराण में महाभारत की कथा का जैन धर्म के नज़रिए से वर्णन मिलता है । इन दोनो कथाओं को जैन कवियों ने कुछ परिवर्तनों के साथ अपने पुराणों में अंकित किया है ।

जैन पुराणों की परम्परा लगभग तीसरी सदी तक चली आती है । इस तरह की पहली रचना विमलदेव सूरि का 'पउम चरिउ'[12] है । यह प्राकृत में लिखी गयी है और इसमें पद्मप्रभ या रामचंद्र की

---

[11] हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, भाग 3, पृष्ठ 236-37 ।

[12] इसे हरिवल्लभ भायाणी द्वारा भारतीय विद्या भवन बंबई से तीन भागों में प्रकाशित करवाया गया है ।

कथा लिखी गयी है । हम यह कह आए हैं कि जैन पुराणों में राम, कृष्ण आदि रामायण और महाभारत के पात्रों को आधार बनाते हुए उनका जैन धर्म के विचारों के आलोक में चित्रण किया जाता है । इस कारण जैन ग्रंथों के राम और कृष्ण ब्राह्मण ग्रंथों के राम और कृष्ण से अलग चित्रित प्रतीत होते हैं ।

जैन कवियों ने रामकथा के पात्रों को अपने पुराणों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है । राम, लक्ष्मण और रावण केवल जैन धर्मावलम्बी ही नहीं माने गए हैं बल्कि इनकी गणना शलाका पुरुषों में की गयी है[13] । जैन ग्रंथों में रामकथा के दो रूप दिखायी पड़ते हैं - एक तो विमल सूरी की परम्परा और दूसरी गुणभद्राचार्य की । काव्यसौंदर्य की दृष्टि से आचार्य गुणभद्र की रामकथा की अपेक्षा विमल सूरि की रामकथा अनेक सुंदर वर्णनों से युक्त एवं अधिक चित्ताकर्षक है । यही कारण है कि गुणभद्र की परम्परा की अपेक्षा विमल सूरी की परम्परा कवियों में विशेष रूप से और लोक में सामान्य रूप से आदृत हुई है ।

विमल सूरि की रामकथा में रावण का चरित्र उदात्त और उज्जवल अंकित किया गया है[14]। वह महावीर का परम भक्त है, नाना सदगुणों से युक्त महात्मा है, वह एक महापुरुष है जो अगले कल्प में तीर्थंकर बनेगा । गुणभद्र के उत्तरपुराणवाली परम्परा के अनुसार राम की माता का नाम दुबका था - कौशल्या नहीं । लक्ष्मण की माता का नाम कैकेयी था - सुमित्रा नहीं । राम श्याम वर्ण न होकर पद्मवर्ण थे । नारद के मुख से सीता की प्रशंसा सुनकर रावण ने उनका अपहरण किया था । सीता मंदोदरी के गर्भ से उत्पन्न रावण की बेटी थी, जिसे अनिष्टकारिणी समझ कर जंगल में छुड़वा दिया था और जनक ने उसका पालन पोषण किया । रावण का वध लक्ष्मण ने किया था राम ने नहीं ।

दोनों परम्पराओं के अनुसार रावण का वध लक्ष्मण ने किया था, राम ने नहीं । इस कारण लक्षमण नरक को जाते हैं और राम जैन धर्म में दीक्षित हो जाते हैं और मुक्ति को प्राप्त करते हैं । लगभग सभी अपभ्रंश कवियों ने इन्हीं परम्पराओं में से किसी परम्परा को लेकर अपने पुराणों में राम कथा वर्णित की[15] । जैन अपभ्रंश काव्य के सबसे पहले कवि 'स्वयंभू' थे । इनकी तीन पुस्तकों के बारे में पता है - पउम चरिउ (पद्म चरित या रामायण), रिठ्ठणेमि चरिउ (हरिवंश पुराण) और स्वयंभू छंद । परवर्ती सभी कवियों ने बड़े आदर के साथ इनको याद किया है । पुष्पदंत ने स्वयंभू का उल्लेख किया है और स्वयंभू ने स्वयं बाण, नागानंदकार श्री हर्ष, भामह, दंडी, रविशेणाचार्य की रामकथा का । इनका समय सातवीं विक्रमी से नवीं विक्रमी तक था ।

---

[13] वही ।

[14] वही ।

[15] वही ।

स्वयंभू ने 'पउम-चरिउ' में अपना जो परिचय दिया, उसे अपनी पुस्तक 'हिन्दी काव्याधरा' में राहुल सांकृत्यायन ने कुछ इस तरह उद्धृत किया है,

बुध जन स्वयभु तोंहि वीनवई । मोंहि सरिसउ अन्य नाहि कुकवि ।।
व्याकरण किछु ना जानियउ । ना वृत्ति-सूत्र अक्खानियऊ ।।
ना सुनेउँ पाँच महान काव्य । ना भरत न लक्षण छन्द सर्व ।।
ना बूझेउँ पिंगल-प्रस्तारा । ना भामह - दडि - अलकारा ।।

पउम चरिउ पाँच कांडों में विभक्त है - विद्याधर कांड, अयोध्या कांड, सुंदर कांड, युद्ध कांड और उत्तर कांड । स्वयंभू ने रामकथा की सुन्दर नदी से तुलना की है । कथा के सभी पात्र जिनभक्त चित्रित किए गए हैं । महाकाव्य के अनुकूल अनेक ऋतुओं का वर्णन किया गया है । वसंत वर्णन, संध्या वर्णन, समुद्र वर्णन, गोला नदी वर्णन, वन वर्णन आदि नाना प्राकृतिक दृश्यों के सुंदर चित्र पूरी रचना में अंकित किए गए हैं ।

रिठ्ठनेमि चरिउ को ही अरिष्टनेमि चरिउ या हरिवंश पुराण भी कहा जाता है । स्वयंभू द्वारा लिखी गयी यह रचना महाभारत और कृष्णकथा से सम्बंधित है । इसमें चार कांड हैं - यादव कांड, कुरु कांड, युद्ध कांड और उत्तर कांड । ग्रंथ के आरम्भ में ही कवि ने विषय की महत्ता और अपनी अल्पज्ञता के बारे में बताया है । यही कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों एवं आलंकारिकों का आभार प्रदर्शन करता है । कवि ने प्रारम्भिक यादव कांड की 13 संधियों में कृष्ण के जन्म, कृष्ण की बाललीला, कृष्ण विवाह, प्रद्युम्न आदि कथाएँ एवं नेमि जन्म की कथा है । कवि ने कथा का आधार महाभारत और हरिवंश पुराण को ही रखा है, लेकिन कहीं कहीं पर समयानुकूल परिवर्तन भी कर लिए हैं ।

स्वयंभू ने दोनो ग्रंथों में कथा प्रवाह के अंतर्गत मार्मिक प्रसंगों के भी विस्तृत वर्णन किए हैं । स्थान स्थान पर रूप वर्णन, प्रकृति वर्णन और वस्तु वर्णन भी उपलब्ध हो जाते हैं । रूपवर्णन के अंतर्गत नारी के सौंदर्य का ही अधिकांश वर्णन किया गया है । नारी के अंगप्रत्यंग अथवा नख-शिख वर्णन करते हुए कवि ने प्रायः परम्परागत उपमानों का ही अधिकांश प्रयोग किया है । प्रकृति वर्णन के प्रसंगों में अनेक ऋतुओं के वर्णन इन काव्यों में उपलब्ध होते हैं । परंतु कहीं कहीं पर नाम गिनाने की हद हो गयी है । उपवन का वर्णन करते हुए अनेक वृक्षों के नाम गिना दिए गए हैं ।

ऋतुओं के अतिरिक्त स्वयंभू ने प्रकृति के अन्य अंगों; जैसे सरोवर, नदी, पर्वत, वन, समुद्र, संध्या, सूर्योदय, चंद्रोदय आदि के आश्चर्यजनक और प्रभावशाली वर्णन किए हैं । स्वयंभू जैन धर्म में दीक्षित थे । यही कारण है कि उन्होंने हिंसामूलक होने के कारण आखे -वर्णन प्रायः कहीं नहीं किया है । किन्तु युद्धवर्णन के प्रति स्वयंभू ने बहुत रुचि दिखायी है और यह बात थोड़ी विचित्र सी लगती है । रस-निरूपण की दृष्टि से स्वयंभू के इस काव्य में वीर रस, श्रृंगार रस और शांत रस ही मुख्य रूप से

दिखायी देते हैं । स्वयंभू की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश है । इन्होंने भावानुकूल भाषा का प्रयोग किया है ।

पुष्पदंत अपने जीवन की प्रारम्भिक अवस्था में शैव थे परंतु पीछे जाकर वे दिगम्बर जैन हो गए । उन्होंने महापुराण[16], णयकुमार चरिउ और जसहर चरिउ की रचना की । इनका समय ईसा की दसवीं सदी माना जाता है । इन्हें अपने कवित्व पर बड़ा गर्व था । इन्होंने स्थान-स्थान पर अपने आपको कविकुलतिलक, काव्यरत्नाकर, सरस्वतीनिलय आदि उपाधियों से सम्बोधित किया है ।

महापुराण दो भागों में विभक्त है - आदि पुराण और उत्तर पुराण । महापुराण के विशालकाय कथानक में अनेक कथाएँ अलौकिक घटनाओं और चमत्कारों से परिपूर्ण है । कथानक में स्थान-स्थान पर अनेक काव्यमय सरस एवं सुंदर वर्णन उपलब्ध होते हैं । पुष्पदंत आदिपुराण में भारत का भौगोलिक विवरण कुछ इस प्रकार देते हैं -

पल्लव-सेधव-कोंकण-कोसल । टक्क-अहीर-कीर-खस-केरल ।
अंग-कलिंग-गंग-जालंधर । वच्छ-जवण-कुरु-गुज्जर-बब्बर ।
दाविड-गउड-कण्णाड-बराड'वि । पारस-पारियाय-पुण्णाडवि ।
सूर-सुरट्ठ-विदेहा-लाड'वि । कोग-बंग-मालव-पचाल'वि ।
मागह-जट्ट-भोट्ट-णेबाल'वि । उड्ड-पुड्ड-हरिकुरु-भगाल'वि ।।

जनपदों, नगरों और गाँवों के वर्णन बड़े ही भव्य हैं । कवि ने मानव के दृष्टिकोण से विश्व को देखा है । रस की दृष्टि से महापुराण में श्रृंगार, वीर और शांत तीनों रसों की व्यंजना हुई है । कवि की शैली अलंकृत शैली है । कवि ने अपनी भाषा को नाना अलंकारों से अलंकृत किया है । पुष्पदंत ने कृष्णकथा का भी वर्णन किया है । कृष्णकथा में कवि का मन अधिक रमा है । पुष्पदंत की शैली स्वयंभू की अपेक्षा अधिक अलंकृत, शिष्ट, रूढ़ एवं कृत्रिम प्रतीत होती है । स्वयंभू में स्वाभाविकता अधिक है, कृत्रिमता कम ।

धवल कवि द्वारा लिखा गया 'हरिवंश पुराण' आदिकालीन अपभ्रंश जैन साहित्य की एक और महत्वपूर्ण रचना है । इस ग्रंथ में हरिवंश पुराण की कथा का रूप वही है जो प्राचीन जैन अपभ्रंश कवियों के काव्य में मिलता है । इस रचना में भौगोलिक वर्णन प्रायः सामान्य कोटि का है । स्थान स्थान पर प्रकृति वर्णन भी दिखायी पड़ते है ।

चरितकाव्य प्रबंधकाव्य का ही एक विशेष रूप या प्रकार है[17] । इसमें प्रबंध काव्य, कथा काव्य और इतिवृत्ता त्मक कथा तीनो के लक्षणों का समन्वय मिलता है । इसी कारण प्रायः

---

[16] डा० पी० एल० वैद्य, सम्पादित, महापुराण, माणिक्य चंद्र ग्रंथमाला, तीन खंडों में ।

[17] हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी ।

चरितकाव्यों को कभी चरित, कभी कथा और कभी पुराण कहा गया है । जैसे 'पउम चरिउ', 'जसहर चरिउ', 'पज्जुण्ण कहा', 'भविसयत्त कहा', 'महापुराण', 'हरिवंश पुराण' आदि । इतना ही नहीं, कवि अपनी एक ही कृति को कभी चरिउ कहता है, कभी कथा और कभी पुराण[18] । बाह्य स्वरूप की दृष्टि से महापुराण, पुराण और चरितकाव्य में केवल आकार का ही भेद होता है । इस चरित साहित्य के रचयिता जैन अपभ्रंश कवियों और उनके काव्य का संक्षिप्त वर्णन करना ज़रूरी है ।

'णायकुमार चरिउ' (नागकुमार चरित) और 'जसहर चरिउ' पुष्पदंत की रचना है । णायकुमार चरिउ की रचना पुष्पदंत ने 'श्रुत पंचमी' नामक व्रत का महात्म्य प्रदर्शित करने के लिए किया था । कवि के नाना दार्शनिक, पौराणिक, नीति-शास्त्र सम्बंधी निर्देशों से उसकी बहुग्यता का आभास भी मिलता है । ग्रंथ से तत्कालीन सामाजिक अवस्था पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । लोग स्वप्नज्ञान, तंत्र, मंत्रादि में विश्वास करते थे[19] । साधु संतों द्वारा की गयी भविष्यवाणी, चमत्कारों और अलौकिक घटनाओं में भी लोग विश्वास करते थे । छंद, अलंकार और भाषा का प्रयोग महापुराण के समान ही मिलता है ।

जसहर चरिउ (यशोधर चरित) पुष्पदंत द्वारा रचित चार संधियों का छोटा चरित काव्य है । हिंसा के दुष्परिणामों से सावधान करने के लिए यशोधर की कथा रची गयी है । धार्मिक भावना और सीमित दृष्टिकाण के कारण इस ग्रंथ में कवित्व निखर नहीं पाया है । फिर भी जगह-जगह पर वस्तुवर्णन, प्रकृतिवर्णन आदि रोचक बन पड़े हैं । छंद, अलंकार, भाषा आदि महापुराण के समान हैं ।

जंबु सामि चरिउ (जंबू स्वामी चरित) की रचना वीर कवि ने की थी । कवि ने अपने पूर्ववर्ती अनेक कवियों का वर्णन किया है । कृति में ग्राम, नगर, अरण्य, सूर्योदय, सूर्यास्त, युद्ध, नारी सौंदर्य आदि के काव्योपयुक्त सुंदरवर्णन उपलब्ध होते हैं । कहीं-कहीं बाण के ढंग पर श्लिष्ट पदावली में प्राकृतिक वर्णन किए गए हैं । इस ग्रंथ की पुष्पिका में लेखक ने इसे श्रृंगार वीर महाकाव्य कहा है । इस काव्य में श्रृंगार रस का आभास तो अनेक स्थलों पर मिलता है, किन्तु युद्ध के वर्णनों में वीर रस का सफलता से चित्रण नहीं हो पाया है । कृति में अनेक अलंकारों, सुभाषितों, लोकोक्तियों का प्रयोग दृष्टिगत होता है[20]।

करकंड चरिउ मुनि कनकामर द्वारा रचित अपभ्रंश काव्य है । बौद्ध भी इन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे[21]। इसका कथानक इस प्रकार है,

---

[18] वही ।

[19] महापुराण, उपरोक्त ।

[20] हिन्दी साहित्य बृहत् इतिहास, पृष्ठ 254।

[21] वही ।

अपभ्रंश मुक्तक साहित्य आदिकाल में बड़ी संख्या में लिखे गए । जैन मुक्तक रचनाकारों में सर्वप्रमुख हैं - जोईंदु (योगिंद्र), मुनिराम सिंह, सुप्रभाचार्य आदि । उपदेशात्मक धाराओं में रचना करने वाले रचनाकार थे, देवसेन, जिनदत्त सूरि, जयदेव मुनि, सोमप्रभा चार्य, महेश्वर सूरि, भट्टारक विनय चंद्र मुनि आदि । जोइन्दु अपनी रचना 'परमात्म-प्रकाश' में 'अलख निरंजन' की अवस्था के बारे में लिखते हैं,

जासु ण वण्णु ण गंध रसु, जासु ण सद्दु ण फासु ।
जासु ण जम्मणु मरणु णवि, णाउ णिरजणु तासु ।।

जिसका न कोई वर्ण है, न गंध, न रस, न शब्द, न स्पर्श । जो न तो जन्म लेता है और न ही मरता है उसका ही नाम 'निरंजन' है ।

देवसेन सदाचार का संदेश देते हुए लिखते हैं -

बेसहिं लग्गइ धनिय धणु, तुट्टइ बधउ मिन्तु ।
मुच्चइ णरु सब्बईं गुणहें, बेसाधरि पइसंतु ।।

जिस तरह पैसे के पीछे लगे रहने से बाँधव और मित्र छूट जाते हैं उसी तरह वेश्यागमन के कारण मनुष्य अपने सारे गुणों से ख़ाली हो जाता है ।

ये कवि साम्प्रदायिक कटुता से रहित होकर सातवीं, आठवीं और परवर्ती शताब्दियों के उस धार्मिक सहचिंतन के स्वर को स्पष्ट कर रहे थे जो जैनों, सिद्धों और नाथों - सबमें समान भाव से समादृत था[22] । जैन सम्प्रदाय से सम्बद्ध होकर भी इनकी चिन्ताएँ साम्प्रदायिक नहीं हैं ये सभी उदार और व्यापक साधना पथ के प्रस्तावक थे । रामसिंह अपनी रचना 'पाहुड-दोहा' में लिखते हैं,

मतु ण ततु ण धेउ ण धारणु । ण'वि उच्छासह किज्जइ कारणु ।

राहुल जी ने हिन्दी काव्यधारा में 'प्रबंधचिंतामणि' (पृष्ठ ५१) से किसी अज्ञात कवि की तो पंक्तियाँ उद्धृत की हैं,

कसु करु रे पुत्त कलत्त धी कसु करु रे करसण वाडी ।
एकला आइवो एकला जाइवो हाथ-पग बेहु झाडी ।।

इन कवियों ने बाह्यादडंबर, आचारबहुलता, कर्मकांड, तीर्थ व्रत, मूर्ति पूजा आदि को निरर्थक बताया और देहरूपी देवालय में ही ईश्वर की स्थिति बताकर, मनुष्य को परमसमाधि, योगसाधना

---

[22] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृष्ठ 256 ।

और शुद्धाचार का संदेश देना इनका प्रमुख उद्देश्य था । रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास में पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर जैन साहित्य को साम्प्रदायिक ठहरा कर इसे इतिहास के बट्टे खाते में डाल दिया[23]। आगे हम सिद्ध काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर बात करेंगे ।

विद्यापति की पदावली और गोरख़बानी

आदिकाल के जिन कवियों के यहाँ सिद्ध संतों की झलक मिलती है, उनमें विद्यापति और गुरु गोरखनाथ महत्वपूर्ण हैं । विद्यापति उसी क्षेत्र से आते हैं जो सिद्धों कि कर्मभूमि रही है । हालाँकि इनके बीच कई सौ वर्षों का अंतर पाया जाता है । परंतु उनकी शिव की छवि में सिद्ध संतों का जीवन और संदेश झलकता है । विद्यापति शिव के आराधक थे । यहाँ तक किंवदंती प्रचलित है कि स्वयं शिव एक नौकर 'सुगना' के रूप में उनकी सेवा करते थे । यह ध्यान देने वाली बात है कि शिव के लिए 'नचारी ' लिखने वाले विद्यापति के यहाँ सिद्ध संतों का जीवन साकार होने लगता है । एक उदाहरण देखिए,

जोगिआ एक हमे देखल गे माइ। अनहद रूप कहलो नहि जाई।।
।। ।। ।। ।। ।।
कुल नहि सिल नहि तात महतारी। बएस हिनक थिक लछ जुग चारी[24]।।

आजु नाथ एक महा सुख लागत हे।
तोहें सिव धरू नट बेष डमरू बजाबह हे।।

शैव सम्प्रदाय के साथ सिद्ध संतों का सम्बंध उनके काव्य को समझने के लिए आवश्यक है । शिव की चारित्रिक विशेषतायें सिद्ध संतों की जीवन दृष्टि के साथ अद्भुत रूप से मेल खाती हैं । बौद्ध वज्रयानियों के रूप में सिद्ध संतों को देखना उनकी अधूरी समझ प्राप्त करना हैं । दरअसल सिद्ध संतों के काव्य में जो जीवन दृष्टि झलकती है, उस पर कितना असर बौद्ध विचारों का है, कितना तंत्र सम्प्रदाय का असर है और कितना शैव सम्प्रदाय का इसका स्पष्ट जवाब सम्भव नहीं है । इन तीनो विचारों का असर सिद्ध संतों के काव्य और उनकी जीवन दृष्टि में देखा जा सकता है ।

दूसरी ओर नाथपंथी परम्परा पूरी तरह सिद्धों के साथ जुड़ी हुई है । नाथों की साधना पद्धति में सिद्धों से अलग जो तत्व दिखाई पड़ते हैं वह ज़्यादा महत्वपूर्ण नहीं है । दुर्भाग्य से हिन्दी साहित्य में अब तक हुए लेखन में इस कहानी पर सबसे ज़्यादा जोड़ दिया गया है । कहानी यह है कि गोरख के गुरु मछेंद्र नाथ कामरूप जा के योगिनी साधना में 'फँस' गए थे । उनका 'उद्धार' करने के लिए गोरखनाथ को कामरूप जाना पड़ा । तब से यह कहावत चल पड़ी कि 'भाग मछंदर गोरख आया' ।

---

[23] हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल ।

[24] विद्यापति पदावली, सम्पादक, रामवृक्ष बेनिपुरी, पृष्ठ १५१-१५२।

लेकिन यह तथ्य कि मछंदर नाथ या मत्स्येंद्र नाथ चौरासी सिद्धों में भी गिने जाते है - कैसे भुलाया जा सकता है ।

न सिर्फ़ मछंदर नाथ बल्कि कई दूसरे नाथ संत भी सिद्धों के यहाँ पाए जाते हैं, बल्कि सिद्ध संत भी नाथों के यहाँ उसी आदर के साथ गुरु के रूप में याद किए जाते है । पितांबरदत्त बड़थ्वाल ने जब गोरख़बानी को संकलित किया तो उसकी भूमिका के पहले ही अनुच्छेद में उन्होंने लिखा कि उनके काम का इसलिए महत्व है कि राहुल सांकृत्यायन सिद्ध संतों के काव्य और कबीर के काव्य के बीच के समयांतराल को भर नहीं पाए थे और उन्हें इस बात का दुःख था । इस कमी को गोरख़बानी पूरा कर देती है । पितांबरदत्त बड़थ्वाल सही कह रहे । गोरख़बानी में जितनी श्रद्धा के साथ सिद्धों को याद किया गया है, उसे कोई भी पाठक समझ सकता है । एक दूसरे की क्रिया प्रतिक्रिया के रूप में इतिहास लिखने वालों को परम्पराओं की निरंतरता पर भी विचार करना चाहिए ।

गोरख़बानी में यूँ तो अनेको जगह सिद्धों का वर्णन है पर एक दो उदाहरण देखिए।

सुणि गुणवंता सुणि बुधिवंता, अनंत सिधां की बांणीं
सीस नावावत सत गुरु मिलिया, जागत रैंणिं विहाणिं।। १०७।।

गुणवानो ! सुनो, बुद्धिमानो ! सुनो, अनंत सिद्धों की वाणी सुनो। सदगुरु के मिलने और उन्हें सिर झुकाने से ('आदेश' करने से) यह जगत-रात्रि जागते जागते (ज्ञानमय अवस्था में) बीत जाती है। जीव अज्ञान की नींद नहीं सोता[25] ।।

ता कारणि अनंत सीधा जोगेस्वर हूबा[26]।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य की शुरुआत सिद्ध काव्य से हुई है । आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार,

"सिद्धों में 'सरह' सबसे पुराने अर्थात विक्रम संवत ६९० के हैं। अतः हिन्दी काव्यभाषा के पुराने काव्यरूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है
[27]।"

---

[25] गोरख़बानी, सम्पादक, पितांबरदत्त बड़थ्वाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, विक्रमी, २००३।

[26] वही, पृष्ठ २।

[27] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १२।

सिद्ध काव्य से हिन्दी साहित्य की शुरुआत मानने से किसी को इनकार नहीं है । परंतु सिद्ध काव्य को 'शुद्ध साहित्य' मानने में कई लोग ना नुकुर करते देखे जा सकते हैं । सच्चाई तो यह है कि जिन पैमानो पर सिद्ध साहित्य को शुद्ध साहित्य मानने से इनकार किया जाता है अगर उन्हें स्वीकार कर ले तो हिन्दी का अधिकांश साहित्य - जिस पर किसी भी भाषा को गर्व हो सकता है - ख़ारिज हो जाएगा ।

हिन्दी की शुरुआत सिद्ध काव्य से हुई है । यही कारण है कि हिन्दी के कवियों गोरखनाथ, कबीर, विद्यापति आदि पर सिद्ध काव्य का प्रभाव साफ़-साफ़ देखा जा सकता है । हिन्दी साहित्य की भाव और भाषा दोनो पर सिद्ध काव्य का असर है, या कहें कि यह सिद्ध काव्य की परम्परा में है । जैन अपभ्रंश काव्य वैसे तो अलग ही रंगत का है । परंतु उसमें भी ब्राह्मण धर्म से अलग एक दूसरी ही परम्परा का परिचय मिलता है ।

जिसे हम हिन्दी साहित्य का आदिकाल कहते है वह इसी तरह की विविध और मिली-जुली साहित्यिक प्रवृतियों का प्रमाण देती हैं । हिन्दी साहित्य के इतिहासकार जिस क्रिया प्रतिक्रिया के रूप में देखते हुए यह बताने की कोशिश करते है कि सिद्धों को 'भोगवादी' प्रवृति के ख़िलाफ़ नाथ पंथियों की ब्रह्मचर्य वादी धारा सामने आयी और इसके लिए गोरखनाथ और मछंदरनाथ की कहानी सुनायी जाती है, वह भरोसे के लायक नहीं है । यह तथ्य है कि सिद्ध संतों की धारा में ही नाथ भी आते हैं । सिद्ध नाथ एक ही परम्परा से आते थे और यह परम्परा निश्चित रूप से ब्राह्मण वैष्णव धारा से अलग थी इस तथ्य से कोई भी इंकार नहीं कर सकता ।

अध्याय 2

सिद्ध काव्य का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

भारतीय इतिहास में 'पूर्व मध्यकाल' सम्राट 'हर्ष' की मृत्यु (647 ई0) से 1206 ई0 में 'क़ुतुबुद्दीन एबक' के दिल्ली पर क़ब्ज़े तक के समय को कहते हैं । कुछ इतिहासकार इन दो घटनाओं को इतना महत्व नहीं देते हुए 500 ई0 से 1200 ई0 तक के समय को 'पूर्व मध्यकाल' कहते हैं । यह समय काल काफ़ी समय तक इतिहासकारों की उपेक्षा का शिकार हुआ है, पर अब इसमें नए शोध हो रहे हैं और पिछले कुछ दशकों में इसकी समझ में विविधता और गहराई बढ़ी है । भूमि अनुदान पत्रों में उल्लिखित तथ्यों और साहित्य, सिक्के, और पुरातात्विक अभिलेखों से इस युग की जानकारी में काफ़ी बढ़ोत्तरी हुई है । नतीजतन, इस समय की घटनाओं के बारे में पहली बार ठोस तरीक़े से कुछ कहना सम्भव हुआ है । नए राजवंशों के अचानक उदय और गायब होने, संघर्ष में सेनाओं के दृश्य, शहरों की समृद्धि और विनाश, अर्थव्यवस्था में आया परिवर्तन, इस समय की धार्मिक पृष्ठभूमि, स्थापत्य कला की स्थिति - ये सभी अब पहले की तुलना में बहुत अधिक स्पष्ट है ।

इस युग को समझने में एक बड़ी समस्या इतिहासदृष्टि के कारण भी रही है । लम्बे समय तक भारतीय इतिहास लेखन कुछ चुनिंदा महान साम्राज्यों और उन शासकों की व्यक्तिगत जीवनी के इर्द-गिर्द ही घूमता रहा है । मौर्य और गुप्त राजवंशो पर इतिहासकारों की कृपादृष्टि सबसे ज़्यादा रही है । उनके समकालीन संस्कृतियों और छोटे राजाओं तथा दूसरे क्षेत्रों पर इतिहासकारों ने ज़्यादा ध्यान नहीं दिया । भारत की खोज इसकी विविधता को समझे और जाने बिना असम्भव है । भारत को समझने की शुरुआत इस विविधता को समझने के साथ शुरू होती है ।

अब तक इतिहासकारों ने पूर्व मध्यकाल या शुरुआती मध्ययुगीन काल (500 ई० -1200ई०) के अध्ययन में ज़्यादा रुचि नहीं दिखायी थी जिस से एक धारणा बन गयी थी कि यह समय एक तरह से अराजकता समय है । पर अब हमें पता है कि यह समय नयी संस्कृति के शुरुआत का भी है जिसका जवाब अब तक इतिहासकारों के पास नहीं था । साम्राज्यवादी इतिहासकार की भारतीय संस्कृति से घृणा जगज़ाहिर है । इन इतिहासकारों इस काल के बारे जितनी घृणा बात की उसका असर आज तक देखा जा सकता है । तंत्रवाद, भक्ति, अत्यधिक परिष्कृत कविता, सती, जाति व्यवस्थाऔर सामन्तवाद की मज़बूती इन सब के बारे कोई संतोषजनक विश्लेषण तो दूर और उलझने बढ़ायी गयी । लेकिन पिछले कुछ दशकों से इस युग के बारे में गम्भीर शोध हो रहे हैं। इसकी शुरुआत इतिहासकार रामशरण शर्मा ने की थी । भारतीय सामन्तवाद पर उनका काम सबसे महत्वपूर्ण माना जाता है । सामन्तवाद की शुरुआत वे भूमिदान की प्रथा से हुआ मानते थे । इस संबंध में वे लिखते हैं -

“तीसरी सदी के आसपास और चौथी के आरम्भ में गंगा के मैदानी क्षेत्रों में, जो ऐतिहासिक काल के सबसे पुराने बसे हुए प्रदेश थे, भूमिदान सम्बंधी लेख नगण्य संख्या में ही मिलते हैं । लेकिन मध्य प्रदेश के पूर्वी हिस्से, महाराष्ट्र के विदर्भ क्षेत्र, आन्ध्र प्रदेश तथा उत्तरी तमिलनाडु में ऐसे अभिलेख बड़े पैमाने पर मिलते हैं । इस आधार पर कहा जा सकता है कि एक ओर पुरोहितों तथा योद्धाओं और दूसरी ओर निम्न वर्ण के लोगों के बीच के संघर्ष से उत्पन्न सामाजिक संकट गंगा के मैदान से बाहर उन क्षेत्रों में आरम्भ हुआ जहाँ वर्णव्यवस्था के पैर अभी ठीक से जम नहीं पाए थे । इस संघर्ष के कारण राज्य के अमलों के लिए किसानो से कर वसूल कर पाना कठिन हो गया । फलतः राज्य के लिए अपने कर्मचा रियों को वेतन देना और जनसाधारण को राजसत्ता तथा समाजव्यवस्था के प्रति निष्ठावान रहने की शिक्षा देने वाले मठाधीशों तथा पुरोहितों को नक़द दान दक्षिणा देना भी अशक्य हो गया । इस परिस्थिति में धार्मिक सेवाओं के प्रतिदान स्वरूप भूमिदान का चलन, जिसका आरम्भ सातवाहनो ने किया था, व्यापक रूप से अपनाया जा सकता था और इसी युक्ति से अन्य सेवाओं का भी प्रतिदिन किया जा सकता था[28] ।”

यहाँ यह तथ्य याद रखने की ज़रूरत है कि भारत का इतिहास लिखने वाले अधिकांश इतिहासकारों के पूर्वाग्रह या सांस्कृतिक और राजनीतिक एजेंडे हमेशा उनकी इतिहास दृष्टि के केंद्र में रहते आए हैं । अपने एजेंडे को साधने के लिए ये इतिहासकार हमेशा कोई न कोई तर्क ढूँढ लिया करते थे । उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटिश इतिहास लेखकों ने भारतीय उपमहाद्वीप पर अपनी सत्ता को मजबूत बनाने के लिए ‘नैतिकता’ के तर्कों का भी सहारा लिया । इन्होंने अपनी ‘श्रेष्ठता’ को साबित करने के लिए पूर्व मध्यका ल के युग को अराजकता और पतन के रूप में दिखाया । इस समय भारतीय इतिहासकारों की इतिहासदृष्टि ‘राष्ट्रवादी’ लेखन का ही एक हिस्सा थी। यही कारण है कि औपनिवेशिक युग का इतिहासलेखन साम्राज्यवा दी इतिहासलेखन की प्रतिक्रिया में राष्ट्रवादी आंदोलन का वैचारिक अस्त्र बन गया था । इसके तात्कालिक फ़ायदे थे लेकिन कालांतर में आज़ादी के बाद या कहें भारत विभाजन के उपरांत यह इतिहासदृष्टि अपनी अहमियत खो बैठी । राष्ट्रवादी इतिहास लेखन ब्रिटिश इतिहास दृष्टि की प्रतिक्रिया के रूप में अपना इतिहास लिखते हुए भी स्रोतों के लिए साम्राज्यवादी इतिहास लेखन पर आश्रित था । यही कारण है कि कुछ इतिहासकारों ने इस युग में हिंदू एकता खोजने की कोशिश की और इस युग की जटिल विविधता को अनदेखा करते हुए एक सामान्यीकारण कर दिया ।

भारतीय और ब्रिटिश दोनों खेमे के इतिहासकारों में एक बात की समानता थी कि इन्होंने गुप्त युग में किसी "स्वर्ण युग" की तलाश जारी रखी । ब्रिटिश इतिहासलेखन अपने स्वर्ण युग की तलाश एथेंस और रोम में कर रहा था । यही कारण है कि जब वह गुप्त युग के साहित्य, स्थापत्य, कला और सैनिक शक्ति से परिचित हुआ तो वह इससे बहुत प्रभावित हुआ और उसने छूटते ही इस युग को

---

[28] भारतीय सामन्तवाद, पृष्ठ ७१।

'स्वर्ण युग' का दर्जा दे दिया । राष्ट्रवादी इतिहास लेखन ने इस 'स्वर्ण युग' के मुकुट को आगे बढ़ कर धारण किया । यह 'स्वर्ण युग' का मुकुटधारी राष्ट्रवादी इतिहास लेखन गुप्त युग के बाद होने वाले किसी भी नए परिवर्तन को स्वाभाविक रूप से अपनी 'हैसियत' में गिरावट के रूप में देखने लगा । गुप्त युग में ऐसा क्या हुआ था जिसे न सिर्फ़ 'स्वर्ण युग' कहा गया बल्कि उसे आज भी भारतीय समाज का एक हिस्सा बड़ी हसरत से याद करता है । इस बारे में इतिहासकार रामशरण शर्मा लिखते हैं -

"असल में व्यापक स्तर पर ब्राह्मणीकरण गुप्तकाल में आरम्भ हुआ । गुप्तों का साम्राज्य मौर्य साम्राज्य के समान विस्तृत तो नहीं था, किंतु वह दो सौ वर्षों तक टिका रहा । गुप्तकाल तक ब्राह्मण लोग मध्य देश में भली भाँति प्रतिष्ठित हो चुके थे । वहाँ से उन्होंने बाहरी प्रदेशों की ओर फैलना शुरू किया । गुप्त राजाओं तथा उनके सामंतो ने नए नए प्रदेशों तथा लोगों को जीता । इन विजित प्रदेशों तथा लोगों के बीच अपनी सत्ता को सुप्रतिष्ठित करने के लिए उन्हें धर्मिक तथा वैचारिक समर्थन की आवश्यकता थी । यह समर्थन मुख्य रूप से ब्राह्मणों से मिल सकता था, हालाँकि अन्य धार्मिक नेता भी इसमें सहायक हो सकते थे । ब्राह्मणों में बहुपत्नित्व का चलन था, इसलिए सम्भव है कि उन्होंने अधिक संतानोत्पत्ति की हो । ईसवी सन की आरम्भिक सदियों में चिकित्सा के बढ़ते ज्ञान के कारण उनकी संतने दीर्घायु बनी । भूसंपत्ति के विभाजन के क़ानून सर्वप्रथम गुप्तकाल में ही देखने को मिलते हैं । इन क़ानूनों के कारण बड़ी बड़ी पारिवारिक इकाइयाँ खंडित हो गयीं । और ब्राह्मणों में निर्धनता आयी । बेहतर लौह प्रौद्योगिकी, सुधरी हुई कृषि विधियों तथा अधिक उन्नत चिकित्सा ज्ञान के कारण मध्यदेश तथा उत्तर बंगाल की आबादी में वृद्धि हुई । यहाँ ज़मीन पर आबादी का दबाव बढ़ने के स्पष्ट साक्ष्य मिलते हैं । इस समस्या का कुछ समाधान ज्ञानी तथा सूझबूझ वाले लोगों के देशांतरन से हो सकता था । ब्राह्मण ऐसे ही लोग थे, जो कुछ उद्यमी शिल्पियों तथा किसानो को भी अपने साथ नए प्रदेशों में चलने को प्रेरित कर सकते थे ।

ब्राह्मणों का गावों की ओर देशांतरन शहरों ह्रास से भी जुड़ा था । शक-सातवाहन काल में मध्यदेश तथा दकन में वाणिज्य व्यापार के बाल पर शहर ख़ूब फूलते फलते रहे और ईसवी सदी की तीन प्रारम्भिक सदियों के दौरान नक़द दान दक्षिणा द्वारा वे ब्राह्मणों तथा अन्य पुरोहित समुदायों का भरण पोषण करते रहे । किंतु व्यापार के ह्रास के कारण जीविका का यह स्रोत सूख गया और फलतः पुरोहित वर्ग के लोग गाँवों की ओर लौट चले[29]।"

उसे उत्तर गुप्त काल या पूर्व मध्यकाल अव्यवस्था, पतन और अराजकता का काल दिखायी देने लगा । उसके बाद का समय तो 'अंधकार काल' का था ही । भारतीय इतिहास लेखन की यह एक विडम्बना है कि इसने यूरोप के मध्यकाल को या तो 'अंधकार काल' के रूप में या 'सामंतवाद' के रूप में अपने इतिहास में ढूँढने की कोशिश की है । इन दोनो अवधारणाओं का प्रयोग दुनिया के

---

[29] भारतीय सामन्तवाद, पृष्ठ ४४२ ।

किसी भी क्षेत्र का इतिहास लिखने के लिए किया जा सकता है पर भारत के इतिहास का नहीं । उत्तर प्रदेश के बागपत ज़िले में हुई खुदाइयों से जो सामग्री प्राप्त हुई है उनमें ताबूत, रथ, हथियार आदि मिले हैं जो पाँच हज़ार वर्ष पुराने किसी योद्धा के हैं । यह प्राचीन भारतीय इतिहास की अब तक बनी पूरी अवधारणा को ही कठघरे में खड़ा कर देती है ।

यूरोपीय और भारतीय इतिहास के बीच कुछ रोचक समानताओं के बावजूद, हमें पूरे इतिहास को 'दूर के बिछड़े भाई' के रूप में इतिहास को देखने से सावधान रहना चाहिए । भारत में न तो कोई चर्च था और न उससे संघर्ष करते हुए किसी पुनर्जगारण की घटना ही हुई । रोमन साम्राज्य पर 644 ईसवी में जब मुसलमानो ने हमला किया तो इसे धर्म युद्ध, अंधकार काल या मध्यकाल की शुरुआत के रूप में देखा जाता रहा है । दुर्भाग्य से इसे भारतीय इतिहास के संदर्भ में आँख मूँद कर स्वीकार कर लिया गया । मुहम्मद गोरी से पृथ्वीराज चौहान की लड़ाई को धर्मयुद्ध की शुरुआत के रूप में देखा गया और गोरी की विजय को मध्यकाल की शुरुआत के रूप में आज तक पढ़ा और पढ़ाया जाता है ।

भारतीय इतिहास लेखन का इस्तेमाल साम्राज्यवादी हित को पूरा करने लिए भी हुआ है और राष्ट्रवादी वैधता हासिल करने के लिए भी; इसे मार्क्सवादी खाँचे में फ़िट करने की कोशिश भी हुई है और हिंदू सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को आगे बढ़ाने के लिए भी इसका इस्तेमाल किया जा रहा है । ये सारे प्रयास भारतीय इतिहास की विविधता को समझने में बाधा खड़ी करते हैं । भारतीय इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यहाँ इन बीते शताब्दियों के दौरान राजनीति, धर्म, पर्यावरण या संस्कृति के लिए कोई भी एक केंद्र नहीं था । इस अवधि में मूर्तिकला और वास्तुकला की क्षेत्रीय शैलियों में जितनी विविधता है, भाषा और साहित्य में जितना लेन-देन हुआ है, उसमें उतनी ही विशिष्टता भी है ।

गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल कहने में विवाद हो सकता है, लेकिन इस बात में कोई शक नहीं है कि गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद लोकभाषाओं का 'स्वर्णकाल' शुरू होता है । गुप्त साम्राज्य के विघटन ने जिस क्षेत्रीय विविधता को विस्तार दिया उसी ने आधुनिक उत्तर भारतीय आर्यभाषाओं के विकास का मार्ग सुलभ किया । हूणों के आक्रमण ने गुप्त साम्राज्य की सत्ता को काफ़ी कमज़ोर कर दिया था । इनके लगातार आक्रमण के कारण पाँचवी शताब्दी से ही गुप्त साम्राज्य के हिस्से अलग होने लगे थे । राजसत्ता के लिए होने वाले आए दिन के सैनिक संघर्षों और पारस्परिक युद्दों के कारण जनता में असुरक्षा की भावना उत्पन्न होने लगी थी । इस अनिश्चितता की स्थिति और केन्द्रीय सत्ता के सुदृढ़ न रहने के कारण स्थानीय छोटे-छोटे राज्यों का उदय होने लगा । ये क्षेत्रीय राज्य स्वतंत्र राज्यों की तरह व्यवहार करने लगे । हिन्दी का प्रारम्भिक इतिहास जिन राजनीतिक परिस्थितियों में विकसित हुआ उनकी भूमिका सातवीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हुए इस विघटन से होते हुए १३ वीं सदी के सल्तनत शासकों के द्वारा उसके एकीकरण तक चली, जिसे मध्यकालीन भारत के इतिहासकार एक व्यापारीकरण और नगरीकरण के रूप में देखते हैं ।

गुप्तों के बाद हर्ष ने सातवीं शताब्दी में उत्तर भारत में एक साम्राज्य स्थापित किया । उसका साम्राज्य पश्चिमोत्तर सीमांत से लेकर आसाम और हिमालय से नर्मदा तक फैला हुआ था । वह उत्तर भारत का अंतिम चक्रवर्ती (सकल उत्तरापथेश्वर) सम्राट हुआ । उसके शासनकाल में विघटनकारी शक्तियों पर अंकुश लगाने की कोशिशें हुईं । किंतु दक्षिण में 'पुलकेशिन' के सशक्त साम्राज्य क़ायम होने के कारण हर्ष कभी भी समग्र भारत का सम्राट नहीं बन पाया । वह 'उत्तरापथेश्वर' ही बना रहा ।

हर्ष के समय राजसत्ता का केंद्र 'पाटलिपुत्र' से उठकर कन्नौज आ गया था । कान्यकुब्ज देश के राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक क्रियाकलाप का केंद्र बन गया और यह आने वाले 600 वर्षों तक राज्य की विभिन्न गतिविधियों का केंद्र बना रहा । 'कन्नौज' की इस हैसियत के कारण उत्तर भारत के अधिकांश राज्य लगातार उसपर क़ब्ज़े का प्रयास करते रहे । इसका कारण यह था कि गंगा नदी उन दिनो व्यापार का एक मार्ग हुआ करती थी । आवागमन का प्रधान साधन होने के कारण इस प्रदेश पर अधिकार के लिए सम्राटों के बीच संघर्ष अनिवार्य सा हो गया था ।

पुष्पदंत 'आदिपुराण' में भारत का भौगोलिक विवरण कुछ इस प्रकार देते हैं -

पल्लव-सेधव-कोंकण-कोसल । टक्क-अहीर-कीर-खस-केरल ।
अंग-कलिंग-गंग-जालंधर । वच्छ-जवण-कुरु-गुज्जर-बब्बर ।
दाविड-गउड-कण्णाड-बराड'वि । पारस-पारियाय-पुण्णाडवि ।
सूर-सुरट्ठ-विदेहा-लाड'वि । कोग-बंग-मालव-पचाल'वि ।
मागह-जट्ट-भोट्ट-णेबाल'वि । उड्ड-पुड्ड-हरिकुरु-भगाल'वि ।।

हर्ष की मृत्यु के पश्चात उनका साम्राज्य बिखर गया था । उनकी राजधानी कान्यकुब्ज को हथियाने के लिए । नए उभरे राज्यों के बीच संघर्ष आरम्भ हो गया । सातवीं सती के अंत में कन्नौज पर यशोवर्मा नमक एक शक्तिशाली शासक ने अधिकार कर लिया । 'गौड़वहो' में उसके दिग्विजय की चर्चा है । किंतु वृद्धावस्था में इसे कश्मीर के शासक ललितादित्य मुक्तापीड़ ने पराजित कर दिया । किंतु कन्नौज के इतिहास में इस बात का विशेष महत्व नहीं है । हर्ष की मृत्यु के बाद न केवल उसका साम्राज्य बिखर गया बल्कि जनजीवन पर भी इसका असर पड़ा होगा । उस समय की स्थिति के बारे में तारानाथ लिखते हैं, "प्रत्येक क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य अपने घर में राजा हो गया और सम्पूर्ण देश पर कोई राजा न रहा ।"

750 और 1000 ईस्वी के मध्य उत्तर भारत और दक्षिण भारत में कई शक्तिशाली साम्राज्यों का उदय हुआ । इनमे से तीन वंश ऐसे थे, जिन्होंने आपस में संघर्ष किया । यह संघर्ष कन्नौज पर आधिपत्य के लिए हुआ । इनमें से एक था पाल वंश, जिसका नवीं सदी के मध्य तक पूर्वी भारत में

एक शक्तिशाली राज्य था । पश्चिमी भारत और उत्तरी गंगा की घाटी में दसवीं सदी तक प्रतिहार राजवंश का प्रभुत्व था । उधर दक्षिण भारत में राष्टकूटों का वर्चस्व था, जो समय-समय पर उत्तर भारत के प्रदेशो पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लेते थे । वस्तुतः इन तीनों शक्तिशाली साम्राज्यों के मध्य संघर्ष चलता रहा । यधपि इन साम्राज्यों के शासन राष्ट्रकूट वंश ने किया । वह न केवल उस काल का सबसे का सबसे शक्तिशाली साम्राज्य था, बल्कि उसके आर्थिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में उत्तर और दक्षिण भारत के मध्य सेतु का भी काम किया ।

सांतवी सदी के पूर्वाद्ध से ही कन्नौज भारत की राजनीति का केंद्र बिंदु रहा था। उस काल में उत्तरी भारत पर आधिपत्य का कोई भी दावा कन्नौज पर अधिकार के बिना निरर्थक था। कन्नौज तथा उसके मध्यदेश का सामरिक महत्व भी था, क्योकि पालो के लिए मध्य भारत तथा पंजाब और प्रतिहारों एवं राष्ट्रकूटों के लिए गंगा दोआब में पहुँचने के मार्ग पर कन्नौज से ही नियंत्रण होता था। इसके अतिरिक्त गंगा-यमुना दोआब, जो प्रचुर मात्रा में राजस्व का स्रोत था। अतः इस पर बिना नियंत्रण किये कोई भी साम्राज्य शक्तिशाली नहीं हो सकता था ।

त्रिपक्षीय संघर्ष के चरण

कन्नौज पर अधिकार के लिए 8 वीं सदी के मध्य से आरंभ हुए राष्ट्रकूट, पल तथा गुर्जर-प्रतिहार राजवंश के मध्य के युद्ध को त्रिपक्षीय संघर्ष के नाम से जाना जाता है । प्रतिहार शासक वत्सराज द्वारा कन्नौज पर आक्रमण के साथ ही संघर्ष की शुरुआत हुई । कन्नौज का शासन, इन्द्रायुद्ध पराजित हुआ तथा उसके वत्सराज का अधिपत्य स्वीकार कर लिया । प्रतिहार गंगा-यमुना के संगम तक पहुंच गए थे और पालो (बंगाल के शासन) का प्रभाव प्रयाग तक बढ़ गया था । परिणामस्वरूप युद्ध अवश्यंभावी हो गया । प्रतिहार नरेश वत्सराज एवं पाल नरेश धर्मपाल के मध्य उत्तर भारत पर विस्तार के लिए संघर्ष आरंभ हो गया । राष्ट्रकूट नरेश धुरुव ने इस संघर्ष में हस्तक्षेप किया एवं सबसे पहले वत्सराज को पराजित किया । त्रिपक्षीय संघर्ष में राष्ट्रकूट ही दक्षिण भारत की ऐसी पहली शक्ति थी जिसने उत्तर भारत की राजनीति में हस्तक्षेप किया तथा दक्षिण से उत्तर भारत पर आक्रमण किया। संभवतः धर्मपाल ने भी धुरुव का आधिपत्य स्वीकार कर लिया । फिर धुरुव दक्षिण को लौट गया । इन घटनाओं से अंतत: धर्मपाल लाभान्वित हुआ । धर्मपाल ने इन घटनाओं का लाभ उठाते हुए कन्नौज पर आक्रमण कर इन्द्रायुद्ध को अपदस्य कर दिया तथा उसकी जगह चक्रायुध को कन्नौज का शासन नियुक्त किया । चक्रायुध ने धर्मपाल का आधिपत्य स्वीकार कर लिया तथा धर्मपाल ने 'उत्तरपथस्वामिन' की उपधि धारण की । हालांकि इन घटनाओं के बारे में स्पष्ट तिथि का अभाव है ।

त्रिपक्षीय संघर्ष के द्रितीय चरण में दो शक्तियाँ ही विधमान हुई । बंगाल का धर्मपाल और गुर्जर प्रतिहार का वत्सराज । कन्नौज क्षेत्र में इस समय आयुध वंश के दोनों भाई इन्द्रायुद्ध और

चक्रायुध आपस में संघर्षरत थे । कन्नौज नरेश चक्रायुध को पल नरेश के संरक्षण के कारण स्वामित्व प्राप्त हुआ है ।

त्रिपक्षीय संघर्ष का तृतीय चरण हुआ जब प्रतिहार शासन नागभट्ट द्रितीय ने 806 - 07 ई. के आसपास कन्नौज पर आक्रमण किया तथा चक्रायुद्ध और धर्मपाल को पराजित कर 810 ई. में कन्नौज को अपनी राजधानी बना लिया । धर्मपाल अब राष्ट्रकूट राजा गोविन्द तृतीय से मिल गया तथा गोविन्द तृतीय ने कन्नौज पर आक्रमण किया तथा नागभटट द्रितीय को पराजित किया । इसके पश्चात गोविन्द तृतीय दक्षिण वापस चला गया । प्रतिहारों और पालों की प्रतिद्वंदिता पुनः प्रांरभ हो गई, जिसमे पालों का पक्ष मजबूत था ।

इस समय प्रतिहार वंश के शासन की बागडोर एक अत्यंत पराक्रमी शासन मीहिरभोज प्रथम के हाथों में थी तथा इसी ने प्रतिहार शक्ति का पुर्नोत्थान किया । उसने 836 ई. में कन्नौज पर आक्रमण किया, किंतु देवपाल द्वारा पराजित हो गया । 850 ई. में देवपाल की मृत्यु के बाद पाल शक्ति का पतन होने लगी । इसी बीच मीहिरभोज ने अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली तथा अंततः 854 ई. के आसपास कन्नौज पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया । इस समय राष्ट्रकूट शासन आमोघवर्ष ने हस्तक्षेप नहीं किया क्योकि चालुक्य शासन से उसका संघर्ष चल रहा था । कन्नौज पर अब प्रतिहार शासक शासन करने लगी ।

कन्नौज पर राष्ट्रकूटों ने दो बार और आक्रमण किये, पहला इन्द्र तृतीय द्वारा 915 ई. में तथा दूसरा कृष्ण तृतीय द्वारा 963 ई. में । हालांकि प्रतिहार शासन कन्नौज पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफल रहे, किंतु जल्दी ही उनके साम्राज्य का पतन हो गया । त्रिपक्षीय संघर्ष, तीनों शक्तिशाली (प्रतिहार, राष्ट्रकूट, पाल) शक्तियो के लिए विनाशकारी साबित हुआ । तात्कालिन परिणाम यह हुआ कि प्रतिहार कन्नौज पर अपना शासन स्थापित करने में सफल हुए तथा राष्ट्रकूट अपने पारंपरिक शत्रु प्रतिहारों की शक्ति विनष्ट करने में सफल हुए । चूँकि पालों ने इस संघर्ष से अपने को पहले से ही अलग कर लिया था, लेकिन वे अपनी खोई हुई शक्ति को दोबारा प्राप्त करने में सफल नहीं हो सके । इस संघर्ष के फलस्वरूप महत्वपूर्ण परिणाम यह हुआ कि इससे उत्तरी भारत की शक्तियों की फिर से गुटबंदी आरंभ हो गई । उत्तर भारत की राजनीति में अब राजपूत शासकों का प्रभाव बढ़ने लगा तथा क्षेत्रीय राज्यों की संख्या में निरंतर वृद्धि होने लगी जिससे कोई भी राजवंश उत्तर एवं दक्षिण भारत पर एकछत्र राज्य स्थापित नहीं कर सका तथा ब्रहा शक्तियाँ भारत पर आक्रमण करने लगी ।

बंगाल का पाल राजवंश

पाल वंश की स्थापना संभवतः 750 ई. के आस पास बंगाल (गौड़) में हुआ था । शशांक की मृत्यु के पश्चात लगभग एक शताब्दी तक बंगाल में अराजकता और अव्यवस्था का माहौल बना हुआ था । उस क्षेत्र में फैली अराजकता से तंग आकर वहाँ के प्रमुख लोगों ने गोपाल को शासन चुना। यह पहला राजा था, जिसका जनता के द्वारा निर्वाचन हुआ । उसके गौड़ में फिर से सुव्यवस्था स्थापित की तथा करीब दो दशकों तक शासन किया । वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था तथा उसने ओदंतपुरी महाविहार की स्थापना भी की थी । 770 ई. में उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र धर्मपाल राजा बना ।

धर्मपाल ने बंगाल पर 770 से 810 ई. तक शासन किया । उसके राज्य का सर्वप्रथम विस्तार किया । कुछ समय के लिए उसके कन्नौज पर अपना अधिकार स्थापित किया था तथा उसने 'उत्तरपथस्वामिन' की उपाधि धारण की । वह बौद्ध धर्मानुयायी था किंतु वह अन्य धर्मो के प्रति भी सहिष्णु था । बिहार और आधुनिक पूर्वी उत्तर प्रदेश पर अपना-अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए पालों और प्रतिहारों के मध्य संघर्ष चलता रहा, यधपि बंगाल के साथ-साथ बिहार पर पालों का ही अधिक समय तक नियंत्रण कायम रहा ।

धर्मपाल का उत्तराधिकारी उसका पुत्र देवपाल अगला शासन बना । देवपाल ने 810 से 850 ई. तक शासन किया तथा इसने भी साम्राज्य विस्तार की नीति जारी रखी । उसने मुंगेर को अपनी राजधानी बनाया, तथा प्रागज्योतिषपुर (असम) और उड़ीसा के कुछ हिस्सों को अपने साम्राज्य में मिला लिया । संभवतः आधुनिक नेपाल के एक हिस्से पर भी पाल प्रभुत्व स्थापित हो गया तथा उसने तिब्बत तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के शैलेन्द्र साम्राज्य (सुमात्रा) से अपना सांस्कृतिक एवं व्यापारिक संबंध बनाये रखा । सुमात्रा के एक शासन, बलपुत्रदेव ने उससे नालंदा में एक मठ की स्थापना की अनुमति भी प्राप्त की । अरब यात्री सुलेमान ने देवपाल के शक्ति का वर्णन एवं साम्राज्य विस्तार की जानकारी दी है । देवपाल की मृत्यु के बाद पालवंश का पतन शुरू हो गया । उसके उत्तराधिकारी नारायण पाल को प्रतिहार शासन मिहिरभोज तथा महेन्द्रपाल के हाथों पराजय का सामान करना पड़ा तथा उसने, उनके हाथों मगध का क्षेत्र भी खो दिया । उसके उत्तराधिकारी राजयपाल ने राष्ट्रकूटों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित करके, खोये हुए क्षेत्र को पुनः प्राप्त किया ।

पाल वंश का पुनरोद्धार महिपाल के दवारा हुआ किंतु चोल शासन राजेन्द्र प्रथम के आक्रमण (1022 - 23) से राज्य को आर्थिक, सामाजिक क्षति उठानी पड़ी । महिपाल का उत्तराधिकारी नयपाल था जिसने प्रांरभ में कलचुरियों से युद्ध किया, किंतु बाद में कलचुरी राजकुमारी से विवाह कर लिया । नयपाल की मृत्यु के बाद अव्यवस्था फ़ैल गयी, जिसका अंत रामपाल ने किया । उसने बंगाल, असम, उड़ीसा पर पुनः नियंत्रण स्थापित किया किंतु सेन शासकों के हाथों पूर्वी बंगाल तथा मिथिला (कर्नाटो के हाथो) को खो दिया । संध्याकर नंदी के रामचरित का नायक वही है । पाल वंश का अंतिम शासन गोविन्द पाल था । यह संभवत: बख़्तियार खिलजी के आक्रमण के समय बंगाल

में शासन कर रहा था, हालांकि यह नाम मात्र का शासन था तथा 12 वीं शताब्दी के अंत में बंगाल का पल राज्य, सेनवंश के अधिकार में चला गया ।

पालकालीन संस्कृति

मूर्तिकला: पाल काल में कांस्य एवं प्रस्तर मूर्तिकला की एक नवीन शैली का उदय हुआ । धीमन और बिथपाल ने मूर्तिकला के क्षेत्र में अपना विशिष्ट योग्यदान दिया, जो धर्मपाल और देवपाल के समकालीन थे । इस समय की कांस्य मूर्तियाँ ढलवाँ किस्म की है । इसके साक्ष्य नालंदा तथा कुकीहार (गया के निकट) से मिले है, ये मूर्तियाँ मुख्य रूप से बुद्ध, बोधिसत्व, मंजुश्री, मैत्रेय तथा तारा की है । हालांकि इस काल की विष्णु, बलराम, सूर्य, उमा, महेश्वर, गणेश आदि हिन्दू-देवी-देवताओं की मूर्तियाँ भी मिलती हैं । बोघगया में अवस्थित चतुर्भुज महादेव की मूर्ति धर्मपाल के शासनकाल में निर्मित हुई ।

शिक्षा एवं साहित्य: पालवंशीय शासकों ने नालंदा, विक्रमशिला, ओदंतपुरी, सोमपुरी आदि में बौद्ध विहार एवं भवन बनवाये । गोपाल ने नालंदा में बौद्ध विहार बनवाया था । धर्मपाल ने विक्रमशिला और सोमपुर के विहारों की स्थापना तथा नालंदा महाविहार को 200 गाँव दान दिए थे । पाल शासकों ने तिब्बत, चीन और दक्षिण-पूर्वी एशिया के शैलेन्द्र राज्य से मित्रता की थी । बौद्ध विद्धान अतीश दीपंकर ने तिब्बत जाकर वहाँ महायान मत का प्रचार-प्रचार किया ।

पाल स्थापत्य एवं चित्रकला: इस काल में वास्तुकला मुख्यतः ईट पर आधारित थी। नालंदा विश्वविद्यालय ईटो से निर्मित है । बिहार एवं बंगाल में मिले अवशेषों में चैत्यों और विहारों के साथ-साथ तालाबों का भी निर्माण करवाया गया था । इस काल के चित्र मुख्यतः ताड़ पत्र पर बने हुए है । इनमें काले, नीले, लाल, बैंगनी तथा हल्के गुलाबी रंगो का प्रयोग हुआ है । पालकालीन चित्रकला पर तांत्रिक प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है । नालंदा से कुछ भिन्न- चित्र भी प्राप्त हुए है । दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ पाल शासकों के व्यापारिक और सांस्कृतिक संबंध थे । दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ व्यापार काफी लाभदायक था ।

गुर्जर - प्रतिहार वंश

गुर्जर - प्रतिहारों का उदभव गुजरात या दक्षिण - पश्चिम राजस्थान में हुआ था । गुर्जर - प्रतिहारों ने 8 वीं शताब्दी से लेकर 11 वीं शताब्दी तक शासन किया । इस राजवंश का संस्थापक हरिश्चन्द्र को माना जाता है । नागभटट प्रथम के राज्यकाल में प्रतिहारों की शक्ति और सुदृढ़ हो गई । इस राजवंश के चौथे शासन वत्सराज ने प्रतिहार राज्य को साम्राज्य में बदलने का प्रयास किया।

इसी के समय त्रिपक्षीय संघर्ष प्रांरभ हुआ था जिसमे इसने भाग लिया, लेकिन पालों तथा राष्ट्रकूट ने उसकी महत्वाकांक्षा पर अंकुश लगा दिया ।

प्रतिहार साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक और इस राजवंश का महानतम शासन भोज था । उसने 836 ई. के लगभग कन्नौज पर कब्ज़ा कर लिया और कन्नौज प्रतिहार राज्य की राजधानी लगभग एक सदी तक बना रहा । भोज ने पूर्व की ओर विस्तार करना चाहा, किन्तु पाल शासकों ने उसे परास्त कर दिया । अरब यात्रियों के विवरण से ज्ञात होता है कि प्रतिहारों के पास भारत में सबसे अच्छी अश्वरोही सेना थी । क्योकि इस समय मध्य एशिया और अरबदेश से घोड़ो का आयात भारतीय व्यापार का एक महत्वपूर्ण अंग था । पाल शासन देवपाल की मृत्यु के पश्चात भोज ने पूर्व की ओर भी अपने साम्राज्य का विस्तार किया । भोज विष्णु का भक्त था और उसने 'आदिवराह' का विरुद्ध धारण किया था। उसके कुछ सिक्कों पर 'आदिवराह' शब्द अंकित है । उज्जैन के भोज परमार से उसका अंतर बताने के लिए उसे मिहिरभोज भी कहा जाता है ।

भोज की मृत्यु संभवतः 885 ई. के आसपास हुई। उसके बाद उसका बेटा प्रथम महेन्द्रपाल राजा बना । उसने मगध तथा उत्तरी बंगाल को जीता तथा पूर्व साम्राज्य विस्तार को सुरक्षित रखा । उसने काव्य मीमांसा तथा कर्पूरमंजरी के रचयिता राजशेखर को संरक्षण प्रदान किया । बगदाद यात्री अल-मसूदी ने 915 - 16 ई. में गुजरात की यात्रा की थी । 915 ई. से 918 ई. के मध्य राष्ट्रकूट शासन इन्द्र तृतीय ने कन्नौज पर आक्रमण और नगर को तहस-नहस कर दिया । इससे गुर्जर - प्रतिहार वंश कमजोर हो गया। संभवत: गुजरात राष्ट्रकूटों के अधिकार में चला गया । 963 ई. में कृष्ण तृतीय (राष्ट्रकूट राजा) ने उत्तर भारत पर आक्रमण करके प्रतिहार शासन को परास्त कर दिया। इसके पश्चात प्रतिहार साम्राज्य का पतन हो गया ।

प्रतिहार शासन ज्ञान- विज्ञानं और साहित्य के उंदार संरक्षण थे । संस्कृत का महान कवि और नाटककार राजशेखर, भोज के पौत्र महिपाल के दरबार में रहता था । प्रतिहार शासकों ने कई भव्य भवन और मंदिर बनवाये तथा इस काल में भी भारत और पश्चिम एशिया के बीच विद्वानों का आदान-प्रदान और वाणिज्य- व्यापार चलता रहा ।

राष्ट्रकूट राजवंश

इस राज्य की स्थापना दंतिदुर्ग (735 - 755 ई.) ने की थी । जिसने आधुनिक शोलापुर के निकट मान्यखेट या मालखेड़ को अपनी राजधानी बनाया । राष्ट्रकूट शासकों ने जल्द ही उत्तर महाराष्ट्र के पूरे प्रदेश पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया । दंतिदुर्ग ने काँची, कलिंग, मालवा आदि क्षेत्रों में साम्राज्य विस्तार किया । इसके पश्चात कृष्ण प्रथम (756 - 772) ने साम्राज्य को विस्तृत किया । वह कला प्रेमी था, उसने एलोरा का सुप्रसिद्ध कैलाश मंदिर बनवाया । राष्ट्रकूट वंश का

त्रिपक्षीय संघर्ष में आगमन ध्रुव (780 - 93) के शासनकाल में हुआ । उसने वत्सराज और धर्मपाल, दोनों ही को पराजित किया था ।

गोविंद तृतीय (793 ई. - 793 ई.) और अमोघवर्ष (814 ई. - 878 ई.) राष्ट्रकूटकालीन महान शासन हुए । एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि गोविंद तृतीय ने केरल, पांड्य तथा चोल राजाओं को भयभीत कर दिया और पल्ल्वों को श्रीहीन बना दिया । अमोघवर्ष धर्म और साहित्य में अधिक रूचि लेता था । वह स्वंय कन्नड़ लेखक था और उसे राजनीति पर कन्नड़ की प्रथम कृति की रचना करने का श्रेय दिया जाता है । अमोघवर्ष के शासनकाल में अनेक विद्रोह हुए जिन्हें बड़ी मुश्किल से दबाया गया था ।

इस वंश का अंतिम प्रतापी राजा कृष्ण तृतीय (934 ई. से 96 ई.) हुआ । उसे मालवा (परमार) और वेंगी के शासकों (चालुक्य, पूर्वी) से युद्ध करना पड़ा । इसने तंजौर के चोल शासन के विरुद्ध भी सैनिक अभियान किया । चोलों ने काँची के पल्ल्वों का राज्य छीन लिया था लेकिन कृष्ण तृतीय ने चोल - राजा परांतक प्रथम को पराजित करके (949 ई.) चोल साम्राज्य के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया । कृष्ण तृतीय की मृत्यु के पश्चात सभी विरोध शासन उसके उत्तराधिकारी के खिलाफ एकजुट हो गए और 972 ई. में राष्ट्रकूटों की राजधानी मान्यखेट को जीतकर उन्होंने वहाँ आग लगा दी । इसके साथ ही राष्ट्रकूट साम्राज्य का अंत हो गया ।

दक्षिण भारत में राष्ट्रकूट शासन 10 वीं सदी के अंत तक लगभग दो सौ वर्ष तक चलता रहा । राष्ट्रकूट शासन धार्मिक सहिष्णु थे । उन्होंने न केवल शैव और वैष्णव धर्म को भी बढ़ावा दिया । राष्ट्रकूट शासन कृष्ण प्रथम ने एलोरा में शिव मंदिर नवीं सदी में बनवाया था । अमोघवर्ष जैन मतानुयायी था । राष्ट्रकूट राजा कला और साहित्य के महान संरक्षक थे । उनके दरबार में न केवल संस्कृत के विद्धान थे, बल्कि अनेक ऐसे कवि और लेखक भी थे, जो प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखते थे । महान अपभ्रंश कवि स्वयंभू और उसके पुत्र राष्ट्रकूट दरबार में ही रहते थे । इस काल के प्रसिद्ध विद्या केन्द्रों में कन्हेरी के बौद्ध विहार की चर्चा की जा सकती है । इन्होंने पल्ल्व स्थापत्य शैली से प्रेरणा ली और इसे अधिक उन्नत स्वरूप प्रदान किया । ठोस चटटानो को काटकर मंदिरों को बनाने की कला इस काल में अपने चरमोतकर्ष पर पहुँची ।

कान्यकुब्ज के राजनीतिक शून्य को भरने के लिए मान्यखेत के 'राष्ट्रकूट' बंगाल के 'पाल' और मालवा के 'गुर्जर प्रतिहार' संघर्षरत हुए । यह त्रिपक्षीय संघर्ष अगले 150 वर्षों तक चलता रहा । अंत में गुर्जर प्रतिहारों ने कन्नौज पर अपना अधिकार कर के काफ़ी दिनो तक देश की राजनीति में अपना वर्चस्व क़ायम रखा । 10 वीं शताब्दी में जब प्रतिहारों का पतन हुआ तब विघटन और विभाजन की प्रक्रिया फिर से शुरू हो गयी । कान्यकुब्ज और काशी पर गहड़वाल राजाओं ने जयचंद के समय तक अपना अधिकार बनाए रखा और राजनीतिक अराजकता को कुछ सीमा तक रोकने का भी प्रयत्न करते रहे ।

किंतु इस समय तक तुर्कों के लगातार आक्रमण होने लगे थे । गोविंदचंद्र इन हमलों का लगातार सामना करता रहा । किंतु उसके पुत्र जयचंद को पराजित कर मुहम्मद गोरी ने कन्नौज पर अधिकार जमा लिया । गहड़वालों के अलावा प्रतिहार साम्राज्य के खंडहरों पर जेजाकभुक्ति बुंदेल खंड में चंदेल, मालबा में परमार, शाकंभरी में चाहमान, राजपुताने में गुहिल, अन्हिलवाड़ा में चालुक्य आदि अनेक राज्य स्थापित हुए । सिंध, बंगाल, उत्कल और आसाम में भी कई स्थानीय राज्य थे जो एक दूसरे की राजसत्ता को हड़पने के लिए परस्पर लड़ते ही रहते थे ।

भारतीय सामन्तवाद तथा सिद्ध काव्य

इस युग में राज्य की सम्पूर्ण शक्ति निरंकुश राजाओं या छोटे सामंतों में विभाजित हो गयी थी। राजा का जनता से सम्पर्क ख़त्म हो गया था । यही समय सामन्तवाद के मज़बूत होने का है। लेकिन इन सबके आसार काफ़ी पहले से नज़र आने लागे थे । रामशरण शर्मा इसे 'कली' या कलियुग की अवधारणा से जुड़ा हुआ पाते है ।

"तीसरी सदी या चौथी सदी के आरम्भ के ग्रंथों से उजागर होने वाली 'कलि' की मुख्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं : वर्णसंकर, शुद्रों तथा ब्राह्मणों के बीच वैर, वैश्यों द्वारा कर देने और यज्ञ करने से इनकार, करभार से पीड़ित प्रजा, चोरी-डकैती, परिवार और सम्पत्ति की असुरक्षा, योगक्षेम का विनाश, कर्मकाण्डी स्थिति के मुक़ाबले सम्पत्ति का बढ़ता महत्व तथा म्लेक्ष राजाओं का बढ़ता प्रभुत्व । ये सब मिलकर सामाजिक अव्यवस्था को और भी घनीभूत कर रहे थे[30] ।"

सातवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच केंद्रीय सत्ता कमज़ोर होने के कारण न केवल छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए बल्कि सामन्तवाद का उदय भी हुआ । यों तो इसकी शुरुआत गुप्त सम्राटों के समय ही हो गयी थी लेकिन केंद्रीय सत्ता के विघटन ने इसके विस्तार का मौक़ा दिया । ये सामंत अपनी राजधानी में राजगद्दी, चँवर, क्षत्र, पालकी, हाथी आदि सम्मानसूचक चिह्न धारण करते थे और राजा, महाराजा, राजाराजानक, राजपुत्र, सामंत, मंडलिक, महासामंत आदि उपाधियाँ धारण करते थे । अपने आडंबर पूर्ण और भोग-विलास के लिए जनता का ख़ूब शोषण करते थे । विजित राजा विजयी राजा का सामंत होता था । परंतु माहौल में भी किसी सिद्ध संत ने यह नहीं लिखा -

भल्ला हुआ जो मारिआ, वहिणि महारा कंतु ।
लज्जेज्जतु वयसियहु, जइ भग्गा घर एंतु ।।

इसके विपरीत उन्होंने यह लिखा,

---

30 भारतीय सामन्तवाद, सामाजिक परिवर्तन तथा परिवर्तन का काल कलियुग, पृष्ठ ६५।

नगर/मगर[31] बारि हिबें डोम्बि चोंचोंरीक डिआ ।
छई[32] छोई जाई सो बमहन दिआ[33] ।।
आल्लो डोम्बि तोए सम करिबे[34] म साअ[35] ।
निघिण कह्ण कापाली जोइ नाग ।।

तथाकथित वीरगाथाकाल के रूप में हिन्दी साहित्य के इस युग को देखने के आदी आलोचकों को प्रेम के इस रूप पर भी विचार करना चाहिए जो निश्चित रूप से हिन्दी का साहित्य है । इसपर कोई दो राय नहीं हो सकती है । रामचंद्र शुक्ल ने भी लिखा है -

"सिद्धों में 'सरह' सबसे पुराने अर्थात विक्रम संवत ६९० के हैं। अतः हिन्दी काव्यभाषा के पुराने काव्यरूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है
[36]।"

यह दूसरी बात कि यह लिखने के बावजूद उन्होंने छूटते ही सिद्ध और जैन साहित्य को 'शुद्ध साहित्य' के दायरे से बाहर कर दिया ।

राजनीतिक सामंतों के अलावा दान और सेवा के बदले प्राप्त भूमि के आधार पर बने सामंतो, ज़मींदारों की संख्या भी बहुत बढ़ गयी थी । सभी छोटे बड़े राजा - महाराजा ब्राह्मणों, धर्मस्थानो, मंदिरों और विहारों को कर मुक्त भूमि दान देते थे । उस भूमि पर रहने वाले लोगों पर शासन करने तथा भूराजस्व प्राप्त करने का अधिकार भी दान ग्रहिता को प्रदान कर दिया जाता था । अतः एक राज्य के भीतर ऐसे अनेक भूमिखंड बनते चले गए जिंपर केंद्रीय प्रशासन लागू नहीं होता था । उन पर ब्राह्मणों, देव स्थानो और मठों का प्रशासन चलता था । ये इकाइयाँ आर्थिक और प्रशासनिक दृष्टि से स्वतंत्र और आत्मनिर्भर होती थी ।

---

[31] यहाँ लगभग सभी विद्वानों ने 'मगर' को 'नगर' पढ़ा है । पर पाण्डुलिपि को देखने से साफ़ पता चलता है कि 'न' कि जगह 'म' लिखा है ।

[32] छोइ, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[33] इसे नीलरतन सरकार 'बाम्ह नाढ़िआ' पढ़ते हैं । जबकि बागची और डॉक्टर शाहिदुल्लाह इसे क्रमशः 'बम्मण' और 'बम्हण' पढ़ते हैं ।

[34] करिब, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[35] नीलरतन सेन इसे 'सांग' पढ़ते हैं ।

[36] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १२।

सैनिक सेवा के बदले वेतन के स्थान पर भूमिखंड प्रदान किए जाते थे । कुमारामत्य , सांधिविग्रहिक, दंड आदि अधिकारी सामंती सुविधाओं से युक्त होते थे। इनकी राजकीय सेवाओं के बदले इन्हें भी भूमि प्राप्त होती थी । उससे होने वाली आय उन्हें पारिश्रमिक के रूप में प्राप्त होती थी । परिणामतः इस युग में केंद्रीय शासक और कृषक के बीच एक दीवार बन गया जो शासित और शासक के बीच एक दीवार बन गया । ये लोग कर वसूलने और कठोर शासन करने के अतिरिक्त बेगार भी लेते थे तथा प्रजा का अनेक प्रकार से उत्पीड़न करते थे । इससे समाज में तनाव भी बढ़ा और इसकी अभिव्यक्ति उस समय के साहित्य में दिखायी पड़ती है । इस समस्या से निपटने के लिए शास्त्रकारों ने क्या सुझाव दिया ?

“स्पष्ट है कि संकट के निवारण के लिए ही मनुस्मृति तथा महाभारत के शांति पर्व में कठोर दंडात्मक उपायों की अनुशंसा की गयी है । इस युग में दंड के प्रयोग को जो महत्व प्रदान किया गया है वह उसे न किसी पूर्ववर्ती धर्मशास्त्र में प्राप्त था और न किसी अन्य रचना में अब राजा के लोकरंजक रूप के बजाय उसके दंडधर रूप पर ज़ोर दिया जाने लगा । कहा गया है कि दंड से धर्म, अर्थ और काम टीनो की रक्षा होती है । दंड से धन-धान्य की रक्षा होती है । राजदंड के भय से लोग इस लोक में पाप से विमुख रहते हैं, इसी प्रकार यमदंड के आतंक से मनुष्य परलोक में पाप नहीं करता [37]।”

इस प्रकार सारा का सारा राज्य इन सामंतो में विभाजित था । प्रजा इन्हें कर देती थी और इन्हें ही अपना मालिक समझती थी क्योंकि आए दिन की लड़ाईयों में इन्हीं के द्वारा उनकी रक्षा भी होती थी । जनता के राजनीतिक दृष्टिकोण को संकीर्ण बनाने में सामन्तवाद का बहुत बड़ा हाथ है । सामन्तवाद के कारण राजनीतिक विशृंखलन को भी काफ़ी मदद मिली । ये सामंत अपनी सेना तथा सारा सामंती ताम झाम रखते थे और केंद्र के कमज़ोर होते ही सत्ता पर क़ब्ज़े का प्रयास शुरू कर देते थे ।

युद्ध के समय इन सामंतों के द्वारा लायी गयी अलग अलग तरह की सेनाओं के बीच तले मेल का भी अभाव रहता था । ये सेना प्रशिक्षण और अनुशासन के अभाव तथा एक सेनापति के अधीन न रहने के कारण अनुशासित होकर नहीं लड़ पाती थी बल्कि यह सैनिक एक भीड़ की तरह होती थी ।

सामन्तवाद का एक दुष्परिणाम यह भी हुआ कि साधारण जनता के बीच से एक देश के रूप में भारत की छवि ग़ायब हो गयी । इसकी जगह स्थानीय भावना स्थानीय श्रेष्ठता के मिथ्याभिमान से जनता भर उठी । जनता धीरे धीरे राजनीति से बाहर होती चली गयी। वह राजपरिवर्तनो को सहज ही स्वीकार कर लेती थी । चाहे राजा किसी देश का हो या मुस्लिम आक्रमणकारी हो । दासता की कुप्रवृति जनमानस में समा रही थी । राजा या सामंत के बदलने पर वह भक्ति और चाटुकारिता दूसरे राजा या सामंत के प्रति बदल जाती थी । यद्यपि इस युग के भारतीय वीरों में शूरता की कमी

---

[37] वही, पृष्ठ ७३ ।

नहीं थी किंतु सामूहिक संगठन और राष्ट्रीय चेतना के अभाव में उनकी व्यक्तिगत शूरता बेकार सिद्ध हुई ।

सामन्तवाद का समाज और उसकी संरचना पर सबसे घटक असर पड़ा । समाज में सामाजिक गतिरोध, रूढ़िवादिता और अंधविश्वास का प्रसार दिखाई पड़ता है । विभिन्न वर्णों में जातियों और उपजातियों की संख्या बढ़ी । समाज एक ओर रूढ़िवादी प्रतिक्रियावादी और पुरातन पंथी बनता चला गया तो दूसरी ओर सबको हिन्दू धर्म की वर्णव्यवस्था में समेटने की कोशिश में पूरी संरचना ही चरमरा गयी थी । ऐसी स्थिति में इस्लाम धर्म के मानने वाले जब उत्तर भारत पर अधिकार ज़माने में सफल हुए तो काफ़ी लोग उसकी ओर आकृष्ट हुए ।

राजनीतिक विचार और संस्थाएँ

इस समय राज्य के मुख्यतः सात अंग माने जाते थे । स्वामी (राजा), अमात्य, सूहृद, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और बल (सेना) । दंड द्वारा प्रजा को अपने स्वधर्म में स्थित रखना राजा का कर्तव्य माना जाता था धर्म शास्त्रों के अनुसार राजा क्षत्रिय ही होना चाहिए। पर इस युग में अनेक ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र भी राजा हुए । हर्ष की मृत्यु के बाद इतनी अस्त व्यस्तता फैल गयी थी जो भी प्रजा की रक्षा कर सके उसे राजा मान लिया जाता था । वर्ण या जाति इसमें कोई बाधा नहीं बनती थी। प्रजा की रक्षा तथा उसका पालन राजा का प्रमुख दायित्व माना जाता था । प्रजा अपने व्यक्तिगत कर्तव्य में स्वतंत्र थी ।

आय के आधार पर राजाओं की कई श्रेणियाँ थी । एक लाख वार्षिक आय पर मांडलिक, बीस लाख वार्षिक आय वाला राजा, और पचास लाख वार्षिक आय वाला महाराजा कहा जाता था । राज्य वृद्धि और राज्य संचालन के लिए राजा मंत्रियों को नियुक्त करता था। केंद्रीय शासन में महामंत्री, पुरोहित, धर्माध्यक्ष, सांधिविग्रहि क, सेनापति, महाक्षपटलिक, प्रतिहार, महाभांडारिक, महासामंत, महादेवी और युवराज का प्रमुख सहयोग रहता था। प्रशासन की सुविधा के लिए राज्य कई इकाइयों में बाँट दिया जाता था । भुक्ति (प्रदेश), मंडल (कमिशनरी), विषय (जनपद), पटल (परगना) और ग्राम स्तर शासन के बीच अधिकारी रहते थे । नगरों और ग्रामों को स्वायत्त शासन का पर्याप्त अधिकार था । इनका प्रशासन विभिन्न समितियों द्वारा जनता के चुने हुए लोग चलते थे ।

राज्य की मुख्य साधन भू राजस्व था । राज्य की सम्पूर्ण भूमि 'भाग' और 'सीता' दो भागों में बंटी होती थी। 'भाग' पर कृषक का अधिकार होता था जिसके बदले में वह राज्य को उपज का छठा भाग देता था। 'सीता' भूमि पर राज्य या तो स्वयं कृषि करता था या अधिक कर पर उठा देता था । भाग के आलावा राजा के भोग के लिए 'भोग' नामक कर भी लिया जाता था । सीता पर अतिरिक्त कर 'उपरिकर' कहा जाता था । इसी प्रकार सोना चाँदी आदि धातुओं पर लगने वाला कर 'हिरण्य' कहा जाता था। विष्टि (बेगार) भी ली जाती थी ।

राजा की आय का दूसरा साधन व्यापार पर लगने वाला कर होता था। पश्चिमी एशिया और दक्षिण पूर्व एशिया से भारत का व्यापारिक सम्बंध बहुत पुराना था। आंतरिक व्यापार भी होता था। लेकिन अरबों के उत्थान के कारण पश्चिमी एशिया का व्यापार शिथिल पर गया था। आंतरिक व्यापार भी आय दिन के युद्दों और लूटपाट के कारण गतिहीन हो रहा था। फिर भी व्यापार का से हुई आय का दसवाँ हिस्सा राज्य कर के रूप में लेता था। बिक्री कर, सीमाशुल्क आदि भी लगता था। खान, वन, गोचर भूमि तथा मद्य विक्रय और न्याय दंड से भी राजा को आय होती थी।

राजाओं के पास अपनी तथा अपने सामंतो की सेना होती थी। इसे 'बल' कहते थे। दुर्ग अस्त्र शस्त्रागार और सैन्य संगठन सैनिक व्यवस्था के अंतर्गत आते थे।

भक्ति की विचारधारा तथा सिद्ध काव्य

इस युग में वैदिक ब्राह्मण धर्म की जगह पौराणिक हिंदू धर्म का उदय हुआ। अनेक जनजातियाँ जिनका सम्पर्क ब्राह्मण व्यवस्था से हो रहा था अब वे अलग अलग जातियों के नाम से पुकारे जाने लगे। नाना प्रकार के देवी देवताओं की उपासना, उनके लिए मंदिर देवालयों का निर्माण तथा मूर्तियों की स्थापना और पूजन तथा मातृशक्ति में विश्वास आदि आदि तत्वों का हिंदू धर्म में आगमन इन्हीं अनार्य जातियों को ब्राह्मण धर्म के दायरे में शामिल करने की कोशिश का नतीजा था । ब्राह्मण धर्म ने लोकतत्वों का न सिर्फ़ ग्रहण किया बल्कि उसकी शास्त्रीय संगति बैठने की कोशिश भी की । इसके कलियुग की अवधारणा को लोगों के बीच में स्थापित करने की कोशिशें की गयीं और इसका असर भी हुआ ।

"कलियुग ने शास्त्रसम्मत वर्णव्यवस्था से सामंती ढंग की संशोधित वर्णव्यवस्था की ओर संक्रमण की गति को तेज़ किया । वर्णसंस्कार का आचरण करने वाले लोग तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में अपने स्थान में परिवर्तन चाहते थे, उन्होंने कभी भी किसी ऐसी व्यवस्था की कल्पना नहीं की जिसमें सामाजिक वर्ग न हों । उन्होंने सम्पत्ति और विशेषाधिकारों पर प्रहार किए किंतु इनसे विहीन समाज के विषय में नहीं सोचा । इसी प्रकार जिन लोगों ने जन्म तथा कर्मकांड की युक्तियों से सुस्थापित पुरानी वर्णव्यवस्था को पुनःप्रतिष्ठित करने का प्रयास किया वे भी उसे अपने पुरातन रूप में पुनरुज्जीवित नहीं कर पाए । उन्हें सम्पत्ति तथा विशेषाधिकारों का पुनर्विन्यास तथा पुनर्वितरण करना आवश्यक प्रतीत हुआ । उन्हें उन अनेक देशी-विदेशी नृपातियों को अपनी व्यवस्था में स्थान देना पड़ा जिनकी शक्ति का स्रोत किसी प्रकार की वैधता और क्षत्रिय मूल से नहीं निकला था, प्रत्युत उनके पराक्रम और साहस पर आश्रित था । अब उन्हें इन देशी-विदेशी नृपतियों को बेमन से ही सही लेकिन उपयुक्त कर्मकाण्डी स्थान देना पड़ा और क्षत्रिय संज्ञा से अभिहित करना पड़ा । मालूम होता है, अधिक बुनियादी परिवर्तन कृषि कार्य करने वाले दासों एवं श्रमिकों की स्थिति में आया, जिनमें से अधिकतर लोग शूद्र वर्ण के प्रतीत होते हैं[38] ।"

---

[38] वही, पृष्ठ ८१ ।

इस समय बौद्ध धर्म की परम्परागत संरचना कमज़ोर होने लगी थी साथ ही हीनयान और महायान भी अब कई शाखाओं में विभाजित हो चुकी थी। भक्ति की धारा का प्रचार प्रसार होने लगा था। इतिहासकार एम जी एस नारायणन और केशवन वेलुथट इस पूरी प्रक्रिया पर विस्तार से विचार करते हैं -

"ध्यान देने की बात है कि सोपानबद्ध सामंतों, राज-शासनों के आधार पर बसाई गयी ब्राह्मण बस्तियों और व्यापारिक निगमों, शिव तथा विष्णु के मंदिरों, सोपानबद्ध जाति व्यवस्था तथा सगुण देवताओं को विषय बनाकर लिखे गए प्रचुर भक्ति साहित्य से युक्त सामंतीकृत राज्य का उदय न केवल उत्तर में गुप्त काल की विशेषता था, बल्कि दकन में चौलुक्य काल तथा धुर दक्षिण में पल्लव-पाण्डय-चेर-चोल काल की भी ख़ूबी थी। इसलिए यह आश्चर्य की बात है कि गुप्त राजाओं के संरक्षण में उत्तर भारत में जो हिंदू पुनरुत्थान सम्पन्न हुआ और जिसे 'हिंदू पुनर्जागरण' और हिंदू कला तथा साहित्य के 'स्वर्ण युग' जैसी अलग-अलग संज्ञाओं से अभिहित किया गया है उसमें भक्ति आंदोलन की स्पष्ट पहचान क्यों नहीं की गयी।उस काल के संस्कृत साहित्य पर दृष्टिपात करने पर लगता है कि एक विशिष्ट आंदोलन के रूप में भक्ति उत्तर भारत में प्रकट हो चुकी थी । इस बात की पुष्टि शिव, विष्णु आदि देवताओं पर लिखे पुराणों तथा महाभारत एवं उसके सारभूत अंश 'भगवद्गीता' के मानकीकृत पाठों से होती है । इसका उद्भव शायद मौर्योत्तर काल में हुआ होगा, जिसका पता विदिशा के प्रसिद्ध हेलियोडोरस के प्रसिद्ध स्तम्भ-लेख से चलता है, जिसकी पहचान हाल में एक मंदिर परिसर के अंग के रूप में की गयी है । मथुरा तथा वाराणसी जैसे तीर्थ स्थानो में जो उपासना केंद्र विकसित हुए उनसे मंदिर संस्था का जन्म हुआ होगा । यह संस्था आगे भक्ति उपासना की वाहक और आकर्षण केंद्र का काम करने वाली थी । मालूम होता है कि पूजा के आगामी रूप वाला भागवत धर्म गुप्तकाल में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच चूका था । गुप्त सम्राटों ने परमेश्वर, भट्टारक, परम भागवत, आदि विरुद धारण किए, जिससे भक्ति उपासना से उनके लगाव का परिचय मिलता है ।

उत्तर भारत में बौद्धिकता पर एकस्व रखने वाले ब्राह्मण ब्रह्म साधना के ज्ञान मार्ग को अपने विशिष्ट मार्ग के रूप में अपना चुके थे । साथ ही उन्होंने दो और मार्गों का भी निर्देश किया, जिनमें से एक था धर्म अर्थात अपने निर्धारित कर्तव्य पर आधारित कर्म मार्ग और दूसरा था श्रद्धा कि बुनियाद पर खड़ा भक्ति मार्ग । कर्म मार्ग का विधान सामान्यतः सभी जातियों के लिए किया गया था । लेकिन विचित्र बात थी कि भक्ति मार्ग, जो दास्य भाव का प्रतिनिधित्व करता था, सभी समूहों के उन असाधारण व्यक्तियों के लिए विहित किया जो सामाजिक बंधनों से मुक्ति के अभिलाषी थे । जाति पर आधारित सामाजिक संरचना में वह निम्नतम समूहों के मनोविज्ञान के लिए विशेष रूप से उपयुक्त था । यहाँ मोटे तौर पर निर्दिष्ट यह तीनों मार्ग जाति-व्यवस्था के लिए सुरक्षा द्वारों का प्रयोजन सिद्ध करते थे । इन्हें भगवद्गीता में एक समझौता सूत्र के तौर पर अत्यंत सारगर्भित रूप में प्रस्तुत किया गया है । यदि सिद्धांततः तीनो मार्ग समान थे तो भक्ति मार्ग को स्थूल, सरल सहज और अनुसरणीय

माना गया । उसे उन हज़ारों-लाखों अशिक्षित और अविकसित जनों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त माना गया जिनकी नियति मेहनत-मशक्कत की ज़िंदगी बितानी थी, लेकिन जिनके मन में किसी न किसी प्रकार की निष्कृति की आकांक्षा पल रही थी ।

मालूम होता है, दक्षिण में भक्ति की पौराणिक विचारधारा का समावेश ब्राह्मण बस्तियों के माध्यम से हुआ, जहाँ बहुत सारे पण्डित पुरोहित धार्मिक तथा अर्ध-धार्मिक साहित्य का अध्ययन अपने धर्म-विहित कर्तव्य के रूप में करते थे । अध्ययन की इस प्रक्रिया को मंदिरों में महाभारत भट्ट के पद की सृष्टि करके संस्थागत रूप दिया गया । इस पद की सृष्टि महाभारत की व्याख्या करने और जनसाधारण के बीच उसे लोकप्रिय बनाने के लिए की गयी थी । दक्षिण में संस्कृत रंगमंच के विकास के फलस्वरूप चाकैयरों की जाति का जन्म हुआ । उन्होंने एक ख़ास क़िस्म के नृत्य नाट्य के द्वारा पौराणिक साहित्य के संदेश के संप्रेषण में विशेष कुशलता प्राप्त कर ली थी । इसके अलावा, पौराणिक मिथकों तथा आख्यानो का चित्रण मूर्तिकला और चित्रकला में किया गया और हिंदू धर्म के विश्वासों तथा मान्यताओं को जनप्रिय बनाने के लिए सभी ललित कलाओं का उपयोग किया गया। जिस मंदिर केंद्रित भक्ति के माध्यम से उत्तर भारत में ब्राह्मण धर्म को हिंदू धर्म में रूपांतरित किया गया उसी विधि की पुनरावृत्ति दक्षिण भारत में हुई[39]।"

हर्ष की मृत्यु के बाद ब्राह्मण तेज़ी से प्रभावशाली हुए और इस प्रक्रिया ने बौद्ध धर्म को कमज़ोर कर दिया । दरअसल हर्ष और उससे पहले के सम्राटों द्वारा दिए जा रहे राजकीय संरक्षण ने बौद्ध धर्म का सबसे ज़्यादा नुक़सान किया । इसपर रोक लगायी वज्रयानी सिद्धों ने । सिद्धों के यहाँ किसी भी प्रकार की भक्ति का कोई उल्लेख नहीं मिलता । सिद्धों के यहाँ कहीं-कहीं 'सदगुरु' का ज़िक्र ज़रूर मिलता है,

बाह तू डोम्बि बाह लो डोम्बि बाठत भइल उछारा ।
सदगुरु पाअ पलुं[40] जाइब पुनु जिनउरा ।।

चौरासी सिद्धों की सूची से साफ़ पता चलता है कि इनमे समाज के सभी स्तरों, वर्गों वर्णों और जातियों के लोग थे । यहाँ तक कि इनमे स्त्रियाँ भी शामिल थीं । जैन धर्म की स्थिति बौद्धों से अच्छी थी। इसके अनुयायी अपने धर्म से अलग नहीं हुए । छठी शताब्दी में जैन आगमो का संग्रह हुआ और इससे पता चलता है कि जैन आचार्य काफ़ी सक्रिय थे । इनका आचार नियम संयम कठोर था । बौद्धों की तरह संघ जीवन की कमज़ोरियाँ इनमे नहीं थी । धार्मिक सैद्धांतिक और दार्शनिक विचारों के प्रति इनकी जागरूकता इन्हें संजोये रखने का दृढ़ संकल्प, साहित्यिक अभिरुचि और कठोर आचार तथा संयम के कारण जैन धर्म का प्रभाव बराबर बना रहा ।

---

[39] भारतीय सामन्तवाद, पृष्ठ 393 .

[40] पएं, नीलरतन सेन ।

जैन धर्म वैश्य जाति या कहें कि व्यापारियों में बहुत लोकप्रिय हुआ । मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक में इनके बड़े-बड़े केंद्र स्थापित हुए । जैन धर्म का अहिंसा पर ज़ोर देने के कारण इसे सम्पन्न वैश्य जाति के लोगों ने इसे न सिर्फ़ स्वयं अपनाया अपितु आर्थिक सहयात के द्वारा इसे लोकप्रिय भी बनाया । राष्ट्रकूटों के कई शासक जैन थे जिन्होंने अपने धर्म के साथ जैन दर्शन, कला और साहित्य को संरक्षण प्रदान दिया ।

निष्कर्ष

गुप्तों के समय जहाँ समग्र देश एक सूत्र में बँधा था वहीं हूणों के आक्रमण के पश्चात गुप्त साम्राज्य का विघटन और पतन आरम्भ हो गया । हर्षवर्धन के समय कुछ काल के लिए विघटन की यह क्रिया थम गयी । परंतु हर्ष की मृत्यु के उपरांत उत्तर भारत में विघटन की प्रक्रिया पुनः तेज़ हो गयी । समूचा देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटने लगा । कान्यकुब्ज में प्रतिहार गुर्जर साम्राज्य की स्थापना होने पर मध्यदेश पुनः एक बार शक्तिशाली शासन के अंतर्गत संगठित हुआ और मुस्लिम आक्रमण कारियों का कुछ काल तक सामना करने में समर्थ रहा । किंतु प्रतिहारों के पतन के बाद जो विघटन आरम्भ हुआ उसने देश को तेज़ी से पतन और पराजय के गर्त में धकेल दिया । 13 वीं शती तक देश का अधिकांश भाग मुस्लिम सत्ता के अधीन हो गया।

इस तरह राजनीतिक क्षेत्र में जहाँ विघटन और संघर्ष के दृश्य साथ-साथ दिखायी दे रहे थे । वहीं सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में भी संक्रमण क़ालीन पप्रवृत्ति दिखायी पड़ने लगी । एक ओर समाज जहाँ जातियों और उपजातियों में बँटता चला जा रहा था, वहीं तमाम देशी विदेशी जातियों और जनजातियों को हिंदू धर्म के दायरे में समेटने का प्रयास भी किया जा रहा था । बौद्ध धर्म का परम्परागत ढाँचा जहाँ बिखर रहा था वहीं वज्रयानियों के रूप में वह सामान्य जनता के बीच लोकधर्म की तरह स्वीकृत भी होता जा रहा था । हिंदू धर्म के भीतर भी भक्ति की विचारधारा के साथ नयी जातीयों और नए समूहों ने अपनी-अपनी दावेदारी और हिस्सेदारी माँगना शुरू कर दिया था । इस विविधता भरे माहौल में भी आंतरिक एकरूपता स्थापित करने के प्रयास जारी थे ।

अध्याय 3

सिद्ध काव्य की विविध व्याख्याएँ

सिद्ध काव्य जिन्हें चर्यापद भी कहा जाता है, ८वीं से १२वीं शताब्दी के बीच सहजमार्गी बौद्ध सिद्धों के रचे हुए गीत हैं । हालाँकि सिद्ध संतों को 'सहजमर्गी बौद्ध सिद्ध' कहना बहुत ठीक प्रतीत नहीं होता । इसका कारण यह है कि सिद्ध कवियों के बौद्ध दर्शन और शैव दर्शन से एकसमान रिश्ते दिखायी पड़ते हैं । नाथों के यहाँ तो वे गुरु के रूप में स्वीकृत हैं । सिद्ध काव्य मिथिलाक्षर - लिपि में संग्रहित किए गए थे । यह गीत मागधी अपभ्रंश के उस रूप का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिनसे आधुनिक बिहारी भाषाओं, असमिया, उड़िया तथा बांग्ला का जन्म हुआ । इन तीनों भाषाओं के साहियत्येतिहासकार सिद्धों की कविता को अपनी सबसे पुरानी रचना कहते हैं । पुरानी मैथिली, मगही, वज्जिका तथा भोजपुरी की झलक लिए हुई इन कविताओं की भाषा, इन्हीं भाषाओं के वर्तमान रूप से आश्चर्यजनक रूप से मेल खाती है । इस तरह लोक भाषा में हिन्दी काव्य का सबसे प्राचीन उदाहरण चर्यागीतिकोश तथा दोहाकोष के रूप में प्राप्त होता है । इन पदों की भाषा बांग्ला, असमिया और उड़िया आदि आधुनिक भाषाओं के पुराने रूप का आभास देती है ।

सिद्ध काव्य ब्राह्मण धर्म के दायरे से बाहर रहने वाले लोगों का काव्य है इसलिए इसमें ब्राह्मणवादी जीवन मूल्यों और कर्मकांडों की आलोचना मिलती है । दरसल ब्राह्मणवादी कर्मकांड तथा वैष्णव धर्म के राजकीय आश्रय पाने के दौरान ही सिद्ध साधना भी ज़ोर पकड़ रही थी । हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने सिद्ध काव्य के साथ न्याय नहीं किया । इसपर हम दूसरे अध्याय में भी विचार करेंगे, परंतु यहाँ इतना कहना ज़रूरी है कि हिन्दी में आदिकाल और भक्तिकाल को जिस तरह क्रमशः घटित होने वाली दो घटनाओं की तरह देखा जाता है, जहाँ महायान बौद्ध धर्म के अंत के बाद, नाथों का आगमन, और नाथों के बाद कबीर आदि निर्गुण संतों का, और सबसे अंत में वैष्णव भक्ति का आगमन समझा जाता है, वह एक नितांत भ्रामक अवधारणा है । यह धारणा इतिहास की ग़लत समझ से तथा ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा से उपजी है । न तो, सिद्ध, नाथ, निर्गुण भक्ति और वैष्णव भक्ति एक दूसरे की प्रतिक्रिया में उपजी थीं और न ही यह क्रमशः घटित होने वाली एक-दूसरे से जुदा परिघटनाएँ थीं । दरअसल 'भक्ति द्राविड़ उपजी' वाली सैद्धांतिकी पर आवश्यकता से अधिक ज़ोर, ऐसे ग़लत निष्कर्षों की ओर ले जाता है ।

महायान बौद्ध धर्म के उदय से पहले उत्तर भारत में वैष्णव धर्म अपनी जड़ें जमा चुका था। गुप्त साम्राज्य के शासक भागवत धर्म को मानने वाले थे, जिन्होंने तरह-तरह से वैष्णव धर्म को संरक्षण दिया था । इसके बाद हर्षवर्धन के समय वैष्णवों और बौद्धों में तीखी प्रतिद्वंदिता जारी रही। यहाँ तक कि ब्राह्मण इतने प्रभावशाली हो गए थे की उन्होंने सम्राट हर्षवर्धन की हत्या का एक

लगभग सफल षड्यंत्र भी रच डाला था । लेकिन हर्ष के बाद बौद्ध धर्म राजकीय संरक्षण से दूर हो गया और उसके स्वरूप में भी काफ़ी परिवर्तन आया । अब बौद्ध धर्म ने महायान बौद्ध सम्प्रदाय का रूप लिया । जिसमें तरह तरह की लोक देवियाँ, योगिनियाँ, आदि पूजनीय हुईं तथा लोक जीवन के सहज सामान्य आचरण को धर्म की संज्ञा दी गयी । ज़ाहिर है, लोक से मुख़ातिब इस धर्म की भाषा भी लोक के बीच से ही ली गयी थी और संवेदना भी । सत्ता केंद्रो और नगरों से दूर, लोक जीवन के बीच रमने वाले इन सिद्धों की कवितायें, हिन्दी साहित्य में इनको लेकर फैले उस भ्रम का निराकरण करने में समर्थ है, जिन्हें कभी तो विवाह और दाम्पत्य सम्बंध की जगह प्रेम को महत्व देने के कारण 'व्यभिचारी' कहा गया, तो कभी, चर्यागीतिकोश के संग्रहकर्ता और टीकाकार मुनिदत्त की टीका के आधार पर 'चमत्कारों' से जोड़ा गया । लेकिन सच्चाई यह है कि सिद्धों की नष्ट होने से बची रह गयी कुछेक कविताएँ ही इन भ्रमों का निराकरण करने के लिए काफ़ी हैं ।

इतिहासकारों की व्याख्या

सिद्धों ने अपने साहित्य में जाति प्रथा, महिलाओं की निम्न स्थिति ब्राह्मणवादी कर्मकाण्ड आदि समस्याओं की सिर्फ़ चर्चा ही नहीं की है, बल्कि इनकी कठोर आलोचना भी की है । सच्चाई तो यह है कि सिद्धों की आलोचना इतनी कठोर है और सिद्धों का जीवन इतना 'विद्रोही' है कि हिन्दी के ब्राह्मणवादी आलोचक और विद्वान सिद्ध साहित्य की चर्चा के नाम से घबरा उठते हैं । सिद्धों ने समूची ब्राह्मणवादी जीवन पद्धति और उनके आदर्शों को सिरे से ख़ारिज कर दिया था । इनके लिए ब्राह्मणवाद और इनके कर्मकाण्ड आदर्श नहीं बल्कि एक समस्या थे ।

आइए सबसे पहले इस पर विचार करें कि इतिहासकारों ने सिद्ध संतों को कैसे देखा है । सिद्ध काव्य को देखने की इतिहास दृष्टि क्या हो इस सबाल्टर्न इतिहासकारों के नज़रिए से देखना महत्वपूर्ण होगा । इतिहासकार रणजीत गुहा लिखते हैं -

"धर्म हमारे उपमहाद्वीप में सबसे पुरातन अभिलेख हैं। शासक व शासित के प्राचीनतम आपसी सम्बन्धों के सभी मुख्य मुद्दे, सत्ता, सहयोग और प्रतिरोध सम्बंधी धार्मिक संहिताओं में दर्ज हैं। ऐतिहासिक रूप से इन संहिताओं का जन्म ताक़त के ढाँचों में ढूँढा जा सकता है। एक लम्बे समय तक बार-बार इस्तेमाल होकर, मज़बूत तथा आम बन गए ये नियम, प्रायः अपने मूल कार्य की उपयोगिता खोकर भी आनेवाली संस्कृतियों के दौरान केवल अवशेष के रूप में ही नहीं, बल्कि निर्धारक इकाइयों के रूप में सक्रिय रहते हैं। परिणामस्वरूप सत्ता के प्रति निम्न वर्ग (सबाल्टर्न) और अभिजात वर्ग (एलीट) के रवैए का दस्तावेज़ी स्वरूप इकट्ठा होता चला जाता है, ...जो मिथकों, सम्प्रदायों, कर्मकांडों और रिवाजों में परिलक्षित होता है। वे ही रवैए का दृष्टिकोण विश्वास, व्यवस्था में भी दिखलाई पड़ते हैं। ज़ाहिर है कि इन दस्तावेज़ों के स्वरूप की वजह से इन्हें ठीक-ठीक पढ़ पाना आसान नहीं है। ज़्यादातर तो ये मौखिक परम्परा का हिस्सा बनकर जीते हैं। इनमें लिखित ब्योरे जैसी स्पष्टता नहीं मिलती है। ये प्रायः रहस्यात्मक भावनाओं तथा दुर्बोध प्रतीकों के

पर्दे में छिपे रहते हैं । इनमे समाहित धारणा इनकी व्याख्या करने वाले विद्वानो की तर्काधारित पूर्वधारणाओं की अवज्ञा करती है। लम्बे अरसे के दौरान इनमें बहुत कुछ जुड़ जाता है और बहुत कुछ नष्ट हो जाता है। इस तरह से यह परिवर्तित स्वरूप इतनी सफ़ाई से पकड़ में नहीं आता जिस तरह से कोई ठोस क़ानूनी मुद्दा समझ में आता है। ये किसी घेरे में न बँधे रहकर अपना स्वरूप बदलते रहते हैं। दिन दुनिया और परलोक, दोनो की ओर इशारा करने वाले इनके संदेश अपनी दोहरी प्रकृति के कारण समझ में आने कठिन हैं।"

रणजीत गुहा इतिहास लेखन की जिस विधि का प्रस्ताव रखते हैं उसपर काफ़ी काम हुआ है। अब ज़रूरत है कि साहित्य के इतिहास लेखन में भी इस विधि का प्रयोग किया जाए । इतिहासकार रामशरण शर्मा ने तंत्र सम्प्रदाय के विकास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के बारे में लिखा है -

"अपनी मातृसत्तात्मक परंपराओं तथा पारिवारिक रीति रिवाजों के साथ क़बायली लोग बड़े पैमाने पर हिंदू अर्थात ब्राह्मणीय समाज में शामिल हो गए, जिसके कारण धर्मशास्त्र के विवाह संबंधी नियमो में नयी व्यवस्थाओं का समावेश करना पड़ा। ईसवी सन से एक दो सदी पूर्व विवाह के जिन अधर्म्य शास्त्र विरुद्ध रूपों का जन्म हुआ था उनमें निस्सन्देह कुछ मातृतंत्रिक रीति रिवाजों को अपना लिया गया था। सातवाहन अभिलेखों से मालूम होता है कि दकन के ब्राह्मण वर्ण के शासक परिवारों में भी मातृतांत्रिक रीतिरिवाज प्रचलित थे, और उड़ीसा दकन तथा गुजरात के पूर्व मध्यकालीन संस्कृत अभिलेखों में प्रशासन के विभिन्न स्तरों पर स्त्रियों के उच्च स्थान को स्पष्ट रूप से मान्यता प्रदान की गयी है। पूर्व मध्यकालीन धर्मशास्त्रों में कुछ ख़ास परिस्थितियों में विधवा-विवाह की अनुमति दी गयी है और स्त्रीधन के दायरे को बढ़ाया गया है। स्त्रियों की अवस्था में ये तमाम परिवर्तन ब्राह्मणीय समाज व्यवस्था में क़बायली लोगों के बड़ी संख्या में शामिल होने के परिणाम जान पड़ते हैं। ..... नए क्षेत्रों में जिन लोगों से इनका सम्पर्क हुआ, उनकी संस्कृति के स्तर अलग-अलग थे। उदाहरण के लिए उड़ीसा, बंगाल, मध्य भारत तथा दकन में ब्राह्मण लोग शबरों के घनिष्ठ सम्पर्क में आए। पूर्व मध्यकालीन अभिलेखों में इन लोगों के उल्लेख मिलते हैं, और ये उड़ीसा तथा उससे लगे मध्य प्रदेश के इलाक़े में आज भी बसे हुए हैं। चौथी सदी के प्रसिद्ध भाष्यकार का नाम शबर स्वामी है, जिससे शबरों के साथ ब्राह्मणों के सांस्कृतिक सम्बंध का आभास होता है।शायद शबरों के भूमि विषयक सामुदायिक अधिकारों का ख़याल करते हुए शबर स्वामी ने कहा कि भूमि पर राजा के साथ प्रजा का संयुक्त अधिकार है।

जहाँ तक स्त्रियों की दीक्षा का सम्बंध है, जनजातीय क्षेत्रों में, जहाँ मातृदेवी की पूजा का व्यापक प्रचलन था, उनकी अवस्था मर्दों की तुलना में उतनी खरब नहीं थी। ब्राह्मणीय व्यवस्था में स्त्रियों को शुद्रों के समकक्ष स्थान दिया गया था।

मातृदेवी के पूजा देश में दीर्घकाल से होती आ रही थी, किंतु छठी सदी बौद्ध तथा ब्राह्मणीय दोनो सम्प्रदायों के साहित्य तथा अन्य लिखित परम्पराओं में उसने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया। अब जनजातियों की मातृदेवियों की पूजा शक्ति या बौद्ध धर्म की तारा के रूप में होने लगी। छठी सदी में शक्ति सम्प्रदाय धार्मिक पंथ के रूप में उभरा और नौंवी सदी से वह प्रबल शक्ति बन गाय।

विभिन्न क्षेत्रों में मातृदेवी के जो विभिन्न नाम प्रचलित थे उनसे उनके आदिवासी मूल का पता चलता है। बंगाल में रचित लगभग दसवीं सदी की बौद्ध कृति हेवज्रतंत्र (जिसे योगिनीतंत्र भी कहते हैं) में बेताली, घास्मारी, शबरी, चंडाली और डोम्बिनी जैसी देवियों के नामों का उल्लेख हुआ है। पत्र-परिधान-धारिणी पर्णशबरी शबरों की देवी थी, जो बंगाल में शबरोत्सव नामक पर्व मनाते थे। तंत्र साहित्य में शिव को शबर कहा गया है[41] ।”

सिद्ध काव्य को संधा भाषा के रूप में देखने और पढ़ने के आदी आलोचक चंडाली, डोम्बिनी, मातंगी जाति की हाड़-मांस की स्त्रियों को न देखकर उन्हें साधना की किसी रहस्यमयी अवस्था के रूप में देखने का ढकोसला करते हैं । अब तक यही होता रहा है । जिन चौंसठ योगिनियों की चर्चा हर जगह मिलती है, क्या उनका कोई अस्तित्व नहीं था । क्या वे सिद्ध काव्य के व्याख्याकारों की माने तो एक प्रतीक भर थीं ? सच्चाई इसके उलट है । कनखला योगिनी के नाम पर कनखल शहर है । इसे कोई कैसे अनदेखा कर सकता है । जालन्धरपाद के नाम पर जालंधर शहर है ।

शक्ति सम्प्रदाय पुरुषों द्वारा स्त्रियों के शोषण के लिए अपनाया गया कोई बहाना नहीं था जैसा कि भक्ति की विचारधारा थी । बल्कि ख़ुद स्त्रियों की इसमें बड़ी भूमिका थी । इन स्त्रियों को शक्ति और देवी के रूप मान्यता मुफ़्त में नहीं मिली था । उन्होंने यह सम्मान हासिल किया था । इतिहासकार रामशरण शर्मा आगे लिखते हैं -

“विभिन्न वर्गों के जीवन के जितना निकट तंत्र सम्प्रदाय था उतना अन्य कोई सम्प्रदाय नहीं था। शायद यही कारण है कि यह सम्प्रदाय भारत में काफ़ी दीर्घायु हुआ और इसके मूल तत्व आज भी क़ायम हैं। कुछ विद्वानो में तंत्र सम्प्रदाय के प्रतीकात्मक तथा दार्शनिक पहलुओं पर ज़ोर देने की प्रवृति दिखायी देती है जिसका मतलब यह होगा कि यह सम्प्रदाय सिद्ध साधकों के संकुचित दायरे तक सीमित था, किंतु प्रकाशित ग्रंथों की विषयवस्तु से मालूम होता है की इनके अधिकतर हिस्से का सम्बंध लोगों के रोज़मर्रा के जीवन से जुड़े आचार व्यवहारों से है[42]”।

बांग्ला विद्वानो की व्याख्याएँ

---

[41] तंत्र सम्प्रदाय की समाजार्थिक पृष्ठभूमि, भारतीय सामन्तवाद, संपादक द्विजेंद्र नारायण झा, पृष्ठ ४४०-४५०।

[42] भारतीय सामन्तवाद, पृष्ठ ४४१।

अब हम सिद्ध काव्य के सम्बंध में सबसे पहले बांग्ला लेखकों की स्थापनाओं पर विचार करेंगे । हरप्रसाद शास्त्री को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने नेपाल की दरबार पुस्तकालय से चर्याचाचर्यविनिश्चय (चर्यागीतिकोश) को खोज निकाला और इसे प्रकाशित करवाया। हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार 'चर्या' का अर्थ आचरण या व्यवहार है । उनके अनुसार इन चर्यापदों में यह बतलाया गया है कि साधक के लिये क्या आचरणीय है और क्या अनाचरणीय है। इन पदों के संग्रह को 'चर्यापद' के नाम से अभिहित किया गया है । सिद्धों की संख्या चौरासी कही जाती है जिनमें कुछ प्रमुख सिद्ध निम्नलिखित हैं : लुइपा, शबरपा, सरहपा, शांतिपा, काह्नपा, जालंधरपा , भुसुकपा आदि[43] ।

'चर्यापद' में संग्रहित पदों की भाषा को 'संधा' या 'संध्या भाषा' कहा गया है । 'संध्या भाषा' का अर्थ कई प्रकार से किया जा सकता है । हरप्रसाद शास्त्री ने संध्या भाषा का अर्थ 'प्रकाश-अंधकारमयी' भाषा किया है । उनका कहना है कि उसमें कुछ प्रकाश और कुछ अंधकार मिले जुले रहते हैं, कुछ समझ में आता है, कुछ समझा में नहीं आता[44]। हरप्रसाद शास्त्री ने चर्यागीतिकोश पर विचार करते हुए इसे हज़ार वर्ष पुरानी बांग्ला भाषा की रचनाएँ मानी। और इसी नाम से इन्हें प्रकाशित करवाया । शास्त्री जी के द्वारा चर्या को बांग्ला भाषा की रचना मानने का जो प्रमाण दिया गया है वह यह गीत है -

बाजअ णाबअ[45] पाड़ी पाउआ-खाले बाहिउ ।
अदअ बँगाले[46] देश लुड़िउ ।।
आजि भुसुकु[47] बंगाली भइली ।
निअ घरिणी चण्डाली लेली ।।
डहि जो[48] पाँच पाटण इम्दि बिसआ णठा।
ण जाणमि[49] चिअ मोर कही गइ पइठा ।।
सोण तरुआ[50] मोर किम्पि ण ठाकिउ ।

---

[43] हज़ार बछारेर पुराण बांग्ला भाषाय बौध गान ओ दोहा, कलकत्ता १९०७।

[44] वहीं, भूमिका।

[45] राज नाब, हरप्रसाद शास्त्री ।

[46] बंगाअल, शाहिदुल्लाह ।

[47] भुसु, नीलरतन सेन ।

[48] डहिअ, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[49] जानमि, शास्त्री और शाहिदुल्लाह ।

[50] सोण तोरुअ, शास्त्री । सोण त रुअ, बागची । सोण रूअ,शाहिदुल्लाह ।

णिअ[51] परिबारे महा नेहे[52] थाकिउ ।।
चउकोडि भण्डार मोर लइआ सेस ।
जिबन्ते मइलऐ नाहि बिषेशा ।।

'जीबन' या जीवन और मौत के अंतर को मिटा देने वाला आनंद जिस साधना से मिलता है भुसुक उसके लिए एक 'चंडाली' खोजते-खोजते बंगाली हो गए। यहाँ 'बंगाली' या 'भंगाली' शब्द किसी क्षेत्र का सूचक न होकर एक विशेष व्यक्ति के लिए प्रयोग हुआ है। वह व्यक्ति जिसकी स्त्री चंडाली हो। सिद्ध साहित्य को पुरानी बांग्ला कहने वाले हरप्रसाद शास्त्री से लेकर नीलरतन सेन तक बांग्ला के विद्वान इसी गीत को उद्धृत करते हैं जो हास्यास्पद प्रतीत होता है।

महामहोपाध्याय पंडित विधुशेखर शास्त्री का मत है कि वास्तव में यह शब्द 'संध्या भाषा' नहीं है बल्कि 'संधा भाषा' है और इसका अर्थ यह है कि इस भाषा में शब्दों का प्रयोग साभिप्राय तथा विशेष रूप से निर्दिष्ट अर्थ में किया गया है[53] । इन शब्दों का अभिष्ट अर्थ बांग्ला के इन विद्वानो के अनुसार अनुधावनपूर्वक ही समझा जा सकता है।

सुनीति कुमार चटर्जी ने अपनी पुस्तक बांग्ला भाषा का इतिहास में सिद्धों और उनकी रचनाओं पर विचार किया है। लेकिन यहाँ उनकी बहस का केंद्र सिद्धों की कविता या उसकी काव्य भाषा नहीं है बल्कि इस बात पर है कि सिद्ध काव्य मागधी की रचना है या बांग्ला की । सुनीति कुमार चटर्जी ने पश्चिमी मागधी अपभ्रंश से बिहारी बोलियों को विकसित माना है । उनके अनुसार, दोहों की भाषा और मगही भाषा की तुलना से यह तथ्य सुनिश्चित होता है कि मगही सिद्धों की भाषा से विकसित हुई है । सर्वनाम में सरहपाद की भाषा में जहां को, जे का प्रयोग होता है, वही मगही के, जे का प्रयोग प्रचलित है । चार, चउदह, दस (दह) आदि संख्यावाचक शब्दों का प्रयोग मगही के समान है ।

सिद्धों की शब्दावलियां कुछ परिवर्तन के साथ मगही में प्रयुक्त होती है। यथा - अइसन, अप्पन, कइसे, लेली, लेलकइ, आइल, अइलइ, अन्धारि, फटिला, अधराति, अधरतिया, भइली, भेली, भइली, आदि । सिद्ध साहित्य की पंक्तियां भी मगही के अत्यन्त निकट मालूम पड़ती है । लुइपा लिखते हैं -

भाब न होइ अभाब न जाइ ।

---

[51] निअ, शास्त्री, शाहिदुल्लाह ।

[52] महासुहे, शास्त्री, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[53] इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली, 1928, पृ. 289

आइस[54] सम्बोहै को पतिआइ ।।
लूइ भणइ बाट[55] दुरलक्ख बिणाणा ।
तिअ धाए बिलसइ उह णा ठाणा[56] ।।
जाहेर बनचिह्न रूब ण जाणी ।
सो कइसे आगम बेऐ बखाणी ।।
कहेरे किशभणि मइ दिबि पिरिच्छा ।
उदक चाँद जिम साच न मिछा[57] ।।
लूई भणइ मइ भाइब[58] कीश ।
जा लइ अच्छम ताहेर उह ण दिसा[59] ।।

सिद्धों की भाषा की संज्ञा, सर्वनाम, मगही के समान ही हैं । अत: यह कहा जा सकता है कि सिद्धों की भाषा से ही मगही का भाषिक रुप विकसित है । सिद्धों की भाषा और मगही में पर्याप्त समरुपता है । यह दिलचस्प बात है कि सिद्ध संत तमिल क्षेत्र में भी हुए हैं और उनकी विशेषताएँ उत्तर भारतीय सिद्धों से मिलती है ।

हिन्दी के विद्वानो की व्याख्याएँ

हिन्दी के सहित्येतिहासकारों में सिद्ध कवियों को लेकर विरोधाभासी धारणाएँ बनी हुई हैं। रामचंद्र शुक्ल जहाँ उनके साहित्य को शुद्ध साहित्य का हिस्सा नहीं मानते -

“सिद्धों और योगियों का इतना वर्णन करके इस बात की ओर ध्यान दिलाना हम आवश्यक समझते हैं कि उनकी रचनाएँ तांत्रिक विधान, योगसाधना, आत्मनिग्रह, श्वास निरोध, भीतरी चक्रों और नाड़ियों की स्थिति, अंतरमुख साधना के महत्व इत्यादि की साम्प्रदायिक शिक्षा मात्र है, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियों और दशाओं से उनका कोई सम्बंध नहीं। अतः वे शुद्ध साहित्य के अंतर्गत नहीं आतीं। उनको उसी रूप में ग्रहण करना चाहिए जिस रूप में ज्योतिष, आयुर्वेद आदि के ग्रंथ।

---

[54] अइस, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[55] लुइ भणइ बढ़, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[56] लागे णा, शास्त्री, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[57] मिच्छा, शास्त्री, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[58] भाबइ, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[59] दिस, नीलरतन सेन ।

….उन रचनाओं की परम्परा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते[60]।"

यह अजीब बात है कि आचार्य शुक्ल अपने हिन्दी साहित्य का इतिहास की शुरुआत इन पक्तियों से करते हैं -

"प्राकृत की अंतिम अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव माना जा सकता है । उस समय जैसे 'गाथा' कहने से प्राकृत का बोध होता था वैसे ही 'दोहा' या 'दूहा' कहने से अपभ्रंश या प्रचलित काव्यभाषा का पद्य समझा जाता था। अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौध्दों की सांप्रदा यिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है[61] ।"

आचार्य शुक्ल और उनकी परम्परा के इतिहासकार जो छुटते ही सिद्ध काव्य से हिन्दी साहित्य के आरम्भ की घोषणा करते हुए फुले नहीं समाते उन्हें 'शुद्ध साहित्य' की विशेषताओं का उस समय कोई ख़याल नहीं रहता, लेकिन जब इस काव्य की व्याख्या का सवाल आता है, तब वे बिना कुछ विचार किए इसे 'साम्प्रदायिक' साहित्य घोषित कर देते हैं । किसी भाषा के साहित्य की शुद्धता का सवाल साहित्यकार के धार्मिक रुझानों से तय नहीं किया जा सकता । साहित्य की कसौटी तो उसकी सहित्यिकता होती है, जिसका किसी पंथ या विचार से कुछ लेना देना नहीं होता । 'शुद्ध साहित्य' के इन्हीं पाखण्डी इतिहासकारों को सम्बोधित करते हुए हज़ारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं -

"इधर जैन अपभ्रंश चरित काव्यों की जो विपुल सामग्री उपलब्ध हुई है, वह सिर्फ़ धार्मिक सम्प्रदाय के मुहर लगाने मात्र से अलग कर दी जाने योग्य नहीं है । स्वयम्भू, चतुर्मुख, पुष्पदंत और धनपाल जैसे कवि केवल जैन होने के कारण ही काव्यक्षेत्र से बाहर नहीं चले जाते । धार्मिक साहित्य होने मात्र से कोई रचना साहित्यिक कोटि से अलग नहीं की जा सकती । यदि ऐसा समझा जाने लगे तो तुलसीदास का 'रामचरितमानस' भी साहि त्यिक क्षेत्र में अविवेच्य हो जाएगा और जायसी का 'पद्मावत' भी साहित्य-सीमा के भीतर में नहीं घुस सकेगा । वस्तुतः लौकिक निजन्धरी कहानियों को आश्रय करके धर्मोपदेश देना इस देश की चिराचरित प्रथा है । कभी-कभी ये कहानियाँ पौराणिक और ऐतिहासिक चरित्रों के साथ घुला दी जाती हैं। यह तो न जैनों की निजी वेशेषता है न सूफ़ियों की । …….. केवल नैति क और धार्मिक या आध्यात्मिक उपदेशों को देखकर यदि हम ग्रंथों को साहित्य सीमा से बाहर निकलने लगेंगे तो हमें आदिकाव्य से भी हाथ धोना पड़ेगा, तुलसी रामायण से भी अलग होना पड़ेगा, कबीर की रचनाओं को भी नमस्कार कर देना पड़ेगा और जायसी को भी दूर से दण्डवत करके विदा कर देना होगा ।"[62]

---

[60] हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १२-१३।

[61] हिन्दी साहित्य का इतिहास।

[62]हजारी प्रसाद द्विवेदी रचनावली, भाग ३, पृष्ठ ५५६-५५७।

डा० धर्मवीर भारती ने अपने शोध प्रबंध 'सिद्ध साहित्य' में गम्भीरता से सिद्ध काव्य पर विचार किया । उन्होंने इनसे हिन्दी साहित्य का आरम्भ माना तथा हिन्दी साहित्य को इनकी परम्परा में भी देखा । परंतु सिद्ध काव्य की व्याख्या का प्रसंग में वे बंगाली विद्वानो पर भरोसा करने लगे । इसका नतीजा यह निकला कि देखते ही देखते सिद्ध काव्य रहस्यमयी साधना पद्धति के मंत्र में तब्दील हो गया। कमल कुलिश और कुंडलिनी जागरण की शब्दावली में इस काव्य की व्याख्या करने के चक्कर में इस काव्य की सहित्यिकता ग़ायब हो गयी । इसकी चर्चा दूसरे अध्याय में करेंगे । परंतु यहाँ उनके निष्कर्षों पर थोड़ी चर्चा ज़रूरी है । भारती लिखते हैं -

"८वीं शताब्दी में तांत्रिक आंदोलनों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि सारे देश में संकीर्ण जाति व्यवस्था और शुद्धतावादी आधार पद्धति के विरुद्ध एक व्यापक विद्रोह जाग उठा था और निम्न वर्ग की जातियाँ उस वक़्त सशक्त और जागरूक थीं । किंतु जैसे अधिकांश विद्रोह और क्रांतियाँ अमर्यादित होकर उछृंखलता और पतनोन्मुखता की ओर अग्रसर होने लगती हैं, वहीं परिणति इस विद्रोह की भी हुई जो तांत्रिक वेश में उभरा था । उसके बाद का काल ऐसा रहा जिसमें इस उछृंखलता की प्रतिक्रिया में, तथा यवन आक्रमणों से सचेत होकर भारतीय धर्माचार्यों ने धर्म साधना को आचार और वर्ण व्यवस्था की दृष्टि से पूर्णतया कस देने का प्रयास किया । इस प्रयास की अतिरेकता में बहुत कुछ अन्याय उन निम्न वर्ग की जातियों के प्रति भी हो गया जिनमें ही अधिकांश संत सम्प्रदाय परिपोषित हुए । अतः एक ओर ये संत एक पराजित और सामाजिक अन्याय से पीड़ित वर्ग के प्रतीक थे, दूसरी ओर ये तांत्रिक विद्रोह के खोखलेपन से भी परिचित थे और तीसरी ओर यवनो की मज़हबी कट्टरता का भी स्वागत नहीं कर पाते थे और चौथी ओर वैष्णव भाव साधना के प्रति आकर्षित होते हुए भी उनके अवतारवाद को ये तर्क सम्मत नहीं मानते थे[63] ।"

धर्मवीर भारती के इस निष्कर्ष से सहमत होना बहुत ही कठिन है । पितृसत्ता के ख़िलाफ़ किसी भी पहल को हमेशा से 'मर्यादा' के ढाँचे में देखने की कोशिश की जाती है । जैसे पितृसत्ता का दूसरा नाम मर्यादा हो और उसके बिना सामाजिक ताना - बाना बिखर जाएगा जो साफ़ तौर पर पितृसत्तात्मक प्रकृति का है । यहाँ तक कि 'मर्यादा' के सवाल को धर्म के साथ इस तरह घुला - मिला दिया गया है कि 'मर्यादा' का पालन धर्म के पालन का दूसरा रूप बन गया है । फिर कैसे पितृसत्ता का विरोध किया जा सकता है? धर्मवीर भारती के लिए ये सवाल शायद महत्वपूर्ण नहीं था । जाति और पितृसत्ता का एक साथ विरोध भारत के इतिहास में बहुत काम हुआ है और जब भी हुआ है, उसके ख़िलाफ़ ब्राह्मण धर्म ने कठोर प्रतिक्रिया व्यक्त की है । जिसे धर्मवीर भारती 'भारतीय धर्माचार्य' के नाम से सम्बोधित कर रहे हैं, वे वहीं प्रतिक्रिया वादी लोग थे जिनके लिए पितृसत्ता और वर्णव्यवस्था की रक्षा उनके जीने मरने का सवाल बाना रहा है ।

---

[63]सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ४७७।

विद्रोह और क्रांतियों के 'अमर्यादित', 'उछृंखल' और 'पतनोन्मुख' होने की समझदारी को एक बार के लिए अनदेखा भी कर दें तो इतना कहना ज़रूरी लगता है कि धर्मवीर भारती के लिए इतिहास क्रिया प्रतिक्रिया की एक प्रक्रिया रही है । जिसे वे संत सम्प्रदाय कहते हैं वह किस हद तक भाव, भाषा और शैली के स्तर पर सिद्ध संतों की परम्परा में आते हैं इसे बार-बार कहने की ज़रूरत नहीं है ।

जब हम सिद्ध काव्य की अब तक हुई व्याख्याओं पर बात करते हैं तो इसका ख़याल नहीं रखते कि सिद्ध संत न सिर्फ़ आधुनिक आर्यभाषाओं के आरम्भिक रचनाकार रहे हैं बल्कि द्रविड़ भाषाओं में भी उन्होंने रचनाएँ की हैं। इसको ऐसे भी कहा जा सकता है कि सिद्ध संत दक्षिण भारत में भी हुए हैं। उनके गुण चौरासी सिद्धों से मिलते हैं। वे भी कवि थे विभिन्न जातियों और लिंग से आते थे। इन तमिल सिद्ध संतो का जिन्हें 'सिद्धार' कहा जाता है चौरासी सिद्ध संतों के साथ क्या सम्बंध था इसपर अलग से शोध की आवश्यकता है। क्योंकि इनका समय भी एक ही है। यहाँ हम इन संतो के विषय में जो जानकारी उपलब्ध है उसे दे रहे हैं।

तमिल सिद्धार

तमिल सिद्ध संतों को 'सिद्धार' कहा जाता है । इनकी संख्या अठारह मानी जाती है । अपनी दैवी शक्तियों के लिए जाने जाते हैं । वे अपनी शक्तियों के प्रयोग से समय पर नियंत्रण कर लेते हैं, शरीर में होने वाले बदलवोंको रोक सकते है और अंततः अमर हो सकते हैं । इन्होंने अपने समाज की भलाई के लिए काफ़ी योगदान दिया है । माना जाता है कि इनका सबसे बड़ा योगदान चिकित्सा की सिद्धा विधि है ।

दक्षिण भारतीय 18 सिद्धार निम्न हैं :

1. **अगथियार** - इन्हें तमिल साहित्य का पिता कहा जाता है ।
   अगथियार तमिल इतिहास के सबसे सम्मानित सिद्धार माने जाते हैं । इन्हें तमिल साहित्य का पिता माना जाता है । पहला तमिल व्याकरण अगथियम का संग्रह इन्होंने ही किया था । वे साहित्य, चिकित्सा, रसायन और अध्यात्म के ज्ञाता माने जाते हैं । इन्होंने 96 पुस्तकों की रचना की । जिनमे मुख्य है वैदिय सिगमनि, छेंधूरम - 300, मणि - 400, सिवजलम और सक्तीजलम

2. **थिरुमूलर**
   इनके गुरु का नाम नांधीदेवर था और इन्होनें 'थिरुमंथीरम' का संग्रह किया । इनकी दूसरी साहित्यिक कृति है 'शैव सिद्धांतम'। इसका सिद्धा चिकित्सा विधि के विकास में महत्वपूर्ण

योगदान है । इन्हें महान दार्शनिक भी माना जाता है । इनके शारीरिक आदर्श महत्वपूर्ण माने जाते हैं । इनका ज़ोर था कि 'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का वास होता है'।

3. **बोगर**

इन्होंने अध्यात्म का संदेश दिया और इसे चीन तक ले गए । चिकित्सा, रसायन और योग के क्षेत्र में इनके योगदान के कारण इन्हें याद किया जाता है । इन्होंने पारे और आर्सेनिक का मिश्रण तैयार किया जो काफ़ी महत्त्वपूर्ण माना जाता है । सिद्ध चिकित्सा विधि से सम्बंधित 42 पुस्तकों की रचना इन्होंने की थी ।

4. कोंगनर

कोंगनर बोगर के पुत्र थे। इन्होंने रसायन से सम्बंधित 40 से भी ज़्यादा पुस्तकों की रचना की। ये अध्यात्म, दर्शन और चिकित्सा के ज्ञाता माने जाते थे।

5. **थेरयर**

यह साहित्य, ज्योतिष, रसायन, रहस्यवाद और चिकित्सा आदि पर उन्हें महारत हासिल था । इनकी भाषा पर पकड़ अविश्वसनीय थी । इन्हें कई भाषाओं जैसे तेलुगु, कन्नड़, मलयालम, तमिल और संस्कृत पर पूरा नियंत्रण था । इनके गुरु धर्मासौमियर थे ।

6. **कोरक्कर**

कोरक्कर की रचनाएँ हैं, कोरक्कर ब्रह्म ज्ञानम 1, कोरक्कर ब्रह्म ज्ञान सूथिरम और कोरक्कर कर्पा चुथिरम ।

7. **करुवुरर**

इनकी कृतियाँ हैं, करुवुरार वधा कवियम, करुवुरार सिव ज्ञान बोधकम और थिरुसइप्पा । तंजोर मंदिर के निर्माण में इनका महत्वपूर्ण योगदान है । इस कारण तंजोर मंदिर के परिसर में ही इनकी समाधि बनायी गयी है ।

8. **एडइक्कदार**

इनकी रचनाएँ हैं रसवथम और कयकर्पम ।

9. **चट्टमुनि**

यह रसायन के क्षेत्र में अपने योगदान के लिए जाने जाते हैं । इनकी रचनाएँ हैं सत्तमुनि पिनि ज्ञानम 100, सत्तमुनि वधा कवियम 1000, सत्तमुनि वथा सूथिरम 200, सत्तमुनि ज्ञान वैलक्काम 51 ।

10. **सुंदरनर**

सुंदरनर अपनी रचनाओं सुंदरनर सिव ज्ञान योगम 32 और सुंदरनर वाक्य सूत्रम 64 । इन्होंने चुन्नम का निर्माण किया ।

11. **रामदेवर**

उनकी मुख्य रचना है रामदेवर 1000 । यह पुलथियार ये शिष्य थे । कायाकल्प के विकास में उनका महत्वपूर्ण योगदान है ।

12. **पमबत्ति**

इनके कार्यों में सिद्धार की 'अट्टम सिद्धि' का समावेश मिलता है । आश्चर्य है कि अष्टसिद्धि कि चर्चा शांतिपाद के इस चर्यागीति में भी मिलती है,

सअ सम्बेअन[64] सरुअ बिआरें ते अलक्ख लक्खन न जाई ।
जे जे उजु बाटे[65] मेलाअना बाटा भइला सोई ।।
कूले कूल मा होइ[66] रे मूढ़ा उजु बाट संसारा ।
बानति न एक बाअ न भूलह राजपथक धारा ।।
माआ मोहा समुदारे अन्त न चूमसि थाहा ।
अगे नाब न भेला दीसअ भन्ति न पूछसि[67] नाहा ।।
सुना पान्तर उह न दीसइ भान्ति न बा ससि जांले ।
एसा[68] अठ महासिद्धि सिस ए[69] उजु बाट जाअल्ले ।।
बाम दाहिन दो घाट[70] छाडी सान्ति छूलथेउ संकलिउ ।
घाट न गुमा खड तडिनो[71] होइ आखि बूजिबनां च जांइउ ।
इनका मुख्य योगदान है ज्ञान सिद्धी ।

13. **मचमुनि**

इनका मुख्य योगदान है मछेंद्र नाधर एंद्र नोंदि सिद्धर पडल ।

---

64 सम्बेअण, नीलरतन सेन ।

65 उजूबाटे, नीलरतन सेन ।

66 होहि, शाहिदुल्लाह ।

67 पुच्छसि, शास्त्री, बागची ।

68 एशा, नीलरतन सेन । एथा, शाहिदुल्लाह ।

69 सिझइ, शास्त्री, बागची ।

70 बाट, नीलरतन सेन ।

71 खढतढि, नीलरतन सेन ।

14. **कूदंबइ**

इनकी रचनायें ज्ञान योग और आध्यात्मिक आनंद से सम्बंधित हैं । इनकी रचना है कूदंबइ सिद्धार पडलगल ।

15. **अझुगन्नी सिद्धार**

सिद्धार ज्ञानकोवइ इनकी महत्वपूर्ण रचना है ।

16. **अगपाइ सिद्धार**

इनकी रचना है ज्ञान सिद्धी । ये कोरक्कर के शिष्य थे ।

17. **नाँधीदेवर**

इन्हें भगवान शिव का शिष्य माना जाता है । नांधीकलइ ज्ञानम 1000 इनका योगदान माना जाता है । ये गुरुओं के गुरु भी कहे जाते हैं ।

18. **काकपुसुंदर**

यह अगथियार के शिष्य थे । इनकी रचनाएँ हैं पूसुंदर मेइ ज्ञान विलक्कम - 80 और पूसुंदर ज्ञानम - 19 ।

तमिल सिद्धार की साधना पद्धति के सम्बंध में जिस अठ्ठ महासिद्धि का उल्लेख मिलता है वह हैं-

अहिमा - एक परमाणु के रूप में मिनट के रूप में बनने की क्षमता;
महिमा -अनंत काल तक विस्तार करने की क्षमता;
लाघिमा - उत्थान या हवा के माध्यम से तैरने की क्षमता;
गरिमा - हर जगह पहुंचने की क्षमता;
प्रज्ञा - इच्छा की आजादी, या प्राकृतिक बाधाओं को दूर करने की क्षमता;
इसित्व - बनाने या नियंत्रण करने की क्षमताआ
वासित्व -पूरे सृजन पर प्रभुत्व; तथा
कामवास्यत्व - इच्छा-पूर्ति का उपहार, या वांछित सब कुछ प्राप्त करने की क्षमता या इच्छाहीनता के चरण को प्राप्त करने की क्षमता।

निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि बांग्ला के विद्वानो ने सिद्ध संतो को बस बांग्ला भाषा के कवि के रूप में देखा और इसे साबित करने में ही अब तक अपनी सारी ऊर्जा लगा दी । बांग्ला विद्वानो ने सिद्ध काव्य की व्याख्या के सम्बंध में कोई नई पहल नहीं की । चर्यागीतिकोश के टीकाकार मुनिदत्त ने तेरहवीं सदी में जिस 'रहस्यमयी' और 'संधा' भाषा के रूप में इस काव्य की व्याख्या कर दी उसे बांग्ला के विद्वानो ने बड़े आदर के साथ स्वीकार कर लिया । उन्हें वैष्णव तांत्रिक

शब्दावली में सिद्ध काव्य की व्याख्या करने में आनंद आता था । दुर्भाग्य से इसे हिन्दी के भी अधिकांश विद्वानो ने जैसे का तैसा स्वीकार कर लिया । यहाँ तक कि धर्मवीर भारती भी इससे नहीं बच सके।

सिद्ध काव्य की सबसे वस्तुनिष्ठ व्याख्या इतिहासकारों ने की है । एक बार जब उन्होंने इन संतों को उनके सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और राजनीतिक संदर्भ में रखकर देखा तो इस काव्य की पृष्ठभूमि सामने आ गयी । इससे इन्हें समझने में भी आसानी हुई । इतिहासकार रजत कांत रे और नुपुर चौधुरी ने सिद्ध काव्य को प्रेम के काव्य के रूप में देखने की कोशिश की जिसे इस शोध में भी जगह दी गयी है । इतिहासकार रामशरण शर्मा तंत्र की ऐतिहासिक परम्परा में ही इन संतों को देखते हैं और इन्हें सामंती सामाजिक संरचना या कहें की जातिवाद के ख़िलाफ़ पाते हैं ।

हिन्दी के इतिहासकारों और आलोचकों में इन संतो के लिए घृणा, प्रेम और रहस्य तीनो के भाव पाए जाते हैं । इन तीनो धारणाओं के प्रतिनिधि के रूप में क्रमशः आचार्य रामचंद्र शुक्ल, राहुल सांकृत्यायन और हज़ारी प्रसाद द्विवेदी को रख सकते हैं । ज़रूरत है इन संतो को सिद्ध काव्य के एक कवि के रूप में देखने की । इसकी कोशिश आगे के अध्याय में की गयी है ।

अध्याय 4.

सिद्ध काव्य की लोकदृष्टि

अब तक सिद्ध काव्य के नाम पर हमें दो काव्य संग्रह मिलते हैं । 'चर्यागीतिकोश' और 'दोहा-कोश' के नाम से संकलित इन संग्रहों में जिन कवियों की रचनायें उपलब्ध हैं, उनपर उत्तर भारतीय आधुनिक आर्यभाषाओं के इतिहासकार अपना-अपना दावा पेश करते हैं । आधुनिक उत्तर और उत्तर पूर्व की भाषायें जैसे मैथिली, हिंदी, उड़िया और असमी पर सिद्ध काव्य का साफ़-साफ़ असर देखा जा सकता है । इसलिए इन भाषाओं के विद्वान अपने साहित्य की जड़ों को सिद्ध काव्य में खोजती हैं । इसमें कोई बुरी बात भी नहीं है । क्योंकि यह एक सच्चाई कि जिन्हें हम 84 सिद्ध कवि के नाम से जानते हैं, वे भारतीय उपमहाद्वीप के लगभग हर क्षेत्र में निवास करते थे । इसलिए उनके पदों में शब्दों की इतनी विविधता है कि उनके सम्पूर्ण साहित्य को पूरी तरह किसी एक आधुनिक भाषा से जोड़ पाना असम्भव है ।

हिन्दी साहित्य में 'लोक' शब्द

इससे पहले कि हम सिद्ध कवियों की लोकदृष्टि पर बात करें, हिन्दी साहित्य में लोक की अवधारणा पर होने वाली बहस की चर्चा ज़रूरी है । लोक और लोकदृष्टि का सवाल हिन्दी साहित्य की व्याख्या और इसकी इतिहासदृष्टि का सवाल है । लोक के लिए अंग्रेज़ी में Folk शब्द का प्रयोग होता है । लेकिन उसका आशय हिन्दी में प्रयोग होने वाले लोक शब्द से काफ़ी अलग है । हिन्दी में लोक शब्द का आशय 'सामान्य जन' या सामान्य जनता और उसकी दृष्टि के रूप में है । वही अंग्रेज़ी में इसका आशय मुख्य धारा से अलग और अनपढ़ तथा ग़रीब लोगों से लिया जाता है । वैसे लोग जो 'आधुनिक' नहीं हैं और अपने परम्परागत जीवन से बांधे हुए है। हिन्दी साहित्य में इस शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में होता है। हिन्दी साहित्य कोश में लोक की परिभाषा इस तरह दी गयी है -

"लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना और पांडित्य के अहंकार से शून्य है और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है । ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्व मिलते हैं, वे लोकतत्व कहलाते हैं[72] ।"

यह बड़ी दिलचस्प बात है कि अंगेजी में लोक शब्द का जो आशय है उससे हिन्दी का एक बड़ा समुदाय सहमत है। 'लोक' और 'वेद' के बीच संघर्ष की परम्परा बहुत पुरानी है। इसी परम्परा में

---

[72] वही, पृष्ठ ५९१।

वेद की भाषा भी अलग है और लोक की भाषा भी। 'लोक' और 'वेद' के बीच भारतीय साहित्य की परम्परा में एक तनाव आज तक बना रहा है। हमें इसी परम्परा में 'लोक' का आशय समझना चाहिए। 'लोक' से आशय न तो निरक्षर व्यक्ति से है और न ही अपनी रूढ़ियों को परम्परा का नाम देकर उससे चिपके रहने वालों से है। यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि अंग्रेज़ी folk का आशय जो भी हो यह अंग्रेज़ी भाषा की समस्या है लेकिन भारतीय साहित्य और ख़ासकर हिन्दी साहित्य की परम्परा में 'लोक' शब्द का आशय 'सामान्य जन' रहा है। 'सामान्य जन' की अपनी परम्परा है और उसकी भाषा भी अपनी है । 'लोक' और 'शास्त्र' के बीच संघर्ष की भी परम्परा है तो इनके बीच आदान-प्रदान भी ज़बरदस्त हुआ है । यहाँ 'क़र्ज़' शब्द का प्रयोग उचित न हो तब भी यह कहा जा सकता है कि पण्डित हज़ारी प्रसाद द्विवेदी का समस्त लेखन एक तरह से शास्त्र को लोक से लिए क़र्ज़ का अहसास कराना था ।

हिन्दी में 'लोक' शब्द के दूसरे प्रयोगों को अलग कर 'लोकदृष्टि' के बारे में यह कह सकते हैं कि इससे आशय 'सामान्य जन' की दृष्टि से है । ऐसी दृष्टि जो विशिष्ट नहीं है । जो सामान्य नज़रिए का न सिर्फ़ प्रतिनिधित्व करता है बल्कि उसके पक्ष को भी सामने लाता है । सिद्ध संतों की लोकदृष्टि से आशय वेद और शास्त्रों की दृष्टि से अलग सामान्य जन की भाषा में उनके मनोभावों का प्रतिनिधित्व करने वाली भाषा और साहित्य से है।

सिद्ध काव्य की अंतर्वस्तु

मुनिदत्त ने तेरहवीं सदी में जब चर्यागीतिकोश की टीका तैयार की थी उसके कुछ ही समय बाद ख़लजी सरदारों ने समूचे उत्तर और पूर्वी भारत में बौद्ध मठों का नाश कर दिया । यही कारण है कि इन सभी रचनाओं का संदर्भ बिंदु तिब्बती और नेवारी में अनूदित और इस तरह सुरक्षित रह गयी रचनाएँ है । भारत की मुख्य भूमि से यह साहित्य पूरी तरह से ख़त्म हो चुका था । बीसवीं सदी की शुरुआत में 'सेसेल बेंडल' और हरप्रसाद शास्त्री के प्रयासों से यह साहित्य फिर से सामने आया । बाद में राहुल सांकृत्यायन तिब्बत गए और वहाँ से तिब्बती भाषा में अनूदित इस साहित्य को वापस लाए ।

जाति प्रथा तथा सिद्ध काव्य

हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी जब सिद्ध काव्य को पढ़ता है तब उसमें हमें कुछ ऐसी आवाज़ें सुनायी पड़ती हैं जो बाद के समय में उस तेवर में हमारे सामने नही आती । ब्राह्मणवादी कर्मकाण्ड और जाति प्रथा का बहिष्कार और स्त्री-पुरुष समानता के पक्ष में सिद्ध साहित्य जिस दृढ़ता के साथ खड़ा नज़र आता है, उसका बाद के हिन्दी साहित्य में मिलना दुर्लभ हो गया । सिद्ध सरहपाद लिखते हैं -

बम्हणहि म जाणन्त हि भेउ । एँवइ पढियउ ए चउवेउ ।।
मट्टि पाणि कुस लई पढ़न्त । घरहीं बइसी अग्गि हुणन्त ।।
कज्जे विरहइ हुअवह होमें । अक्खि डहाविअ कडुएँ धूयें ।।

भारतीय इतिहास में चारों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मणों की ऐसी आलोचना कम ही हुई है । सरहपा ने यह भी लिखा है :

पंडिअ सअल सत्य बक्खाणइ ।
देहहि बुद्ध बसन्त ण जाणइ ।।
गमणागमण न तेन विखण्डिअ ।
तो णिलज्ज भणहि हउँ पण्डिअ ।।
जीवन्तह्य जो नउ जरइ,
सो अजरामर होइ ।
गुरु उवएसे विमल मइ,
सो पर धणणा कोइ[73] ।

[पण्डित सकल शास्त्रों को ले बखानता है, पर देह ही में बुद्ध बसते हैं, यह नहीं जानता । उसने आवागमन को तो खण्डित नहीं किया, तो भी वह निर्लज्ज कहा करता है कि 'मैं पण्डित हूँ'। जो जीते जी जीर्ण नहीं होता, वही अजर अमर होता है। वही धन्य है जिसे उपदेश से विमल गति प्राप्त हो गयी है।]

इसके बावजूद हिन्दी के लिए यह दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दी साहित्य के कई इतिहासकारों और आलोचकों ने बौद्ध सिद्ध कवियों को कवि मानकर नहीं बल्कि उन्हें एक प्रतिद्वंदी के रूप में देखा और व्यवहार किया है । हिन्दी साहित्य के इतिहासों में इन सिद्ध कवियों को क्या-क्या नहीं कहा गया है । किसी ने वामाचारी कहा तो किसी ने व्यभिचारी । शायद ही किसी ने सिद्धों की लिखी कविताओं को 'कविता' की तरह पढ़ा हो । एक बार किसी इतिहासकार ने उन्हें 'सांप्रदायिक' कह कर 'ख़ारिज' क्या कर दिया, फिर किसी ने उनकी कविताओं को पढ़ना भी ज़रूरी नही समझा । हमारे जाति आधारित छुआ-छूत वाले समाज के मानस पुत्रों ने हिन्दी साहित्य के भीतर अछूत ठहरा दिए गए सिद्ध कवियों को कभी अपनी आलोचना और शोध का विषय बनाना उचित नही समझा । अछूत को छूने के अपने ख़तरे हैं ।

लिंग, पितृसत्ता तथा सिद्धों की कविता

---

[73] दोहाकोष, सम्पादक, राहुल सांकृत्यायन।

सिद्धों की कविताओं की व्याख्या १९ वीं और २० वीं सदी में वर्तमान तंत्रिक और अघोर साधना के नाम पर बने समूहों की जीवन पद्धति को उदाहरण के रूप में लेते हुए की गयी है । इस के कारण सिद्ध काव्य की बड़ी ही दुर्भाग्यपूर्ण और ख़तरनाक व्याख्याएँ सामने आयी हैं । इन कुत्सित व्याख्याओं के कारण इन कविताओं को पढ़ने और विचार करने लायक नही समझा जाता । दर असल सच्चाई तो ये है कि ब्रह्मणवादियों ने सिद्धों के बारे में मिथ्या प्रचार उनके जीवित रहते ही शुरू कर दिया था । सिद्धों की कविताओं को पढ़ते हुए ब्राह्मणवाद, जातिप्रथा, छुआ-छूत आदि विषयों से सम्बन्धित उनकी आलोचनाओं पर भी बात की जा सकती है पर यहाँ हम शुरुआत प्रेम के सम्बंध में उनके नज़रिए और इस पर हुई प्रतिक्रियाओं से करेंगे ।

राजा, पुरोहित, योद्धा जैसे 'महत्वपूर्ण' लोगों की विरुदवाली के विपरीत ये सिद्ध कवि समाज के सबसे निचले तबके के लोगों को न सिर्फ़ अपनी कविता का विषय बनाते थे बल्कि उनकी भाषा में उन्हीं के लिए अपनी रचना भी करते थे । यह उस समय के हिसाब से बहुत बड़ी घटना थी । वह समय भक्ति आंदोलन के आरम्भ होने का है । भक्ति आंदोलन अपने शुरुआती चरण में सिद्ध संतों के प्रभाव को कम करने के लिए प्रयास रत था । इस संबध में इतिहासकार रामशरण शर्मा लिखते हैं -

"भक्ति आंदोलन के जिस जातिविहीन चरण को देखकर कुछ विद्वानो ने कभी-कभी उसकी व्याख्या जातिप्रथा के प्रति विरोध के रूप में की है उसके बाद इस प्रथा की स्वीकृति का दूसरा चरण आरम्भ हो गया ।

अतएव यह निष्कर्ष न निकालना अनुचित न होगा कि जात-पात की उपेक्षा में निहित सुधार की प्रवृति कम से कम अंशतः बौद्ध तथा जैन धर्मों के जैसे उन परम्परा विरोधी पंथों की शक्ति की उपज थी जो इस तरह के बंधनो को स्वीकार नहीं करते थे । परम्परा-विरोधी पंथों के विरुद्ध अपने संघर्ष के इस दौर में ब्राह्मणीय हिंदुत्व ने स्पष्ट ही अपने विरोधियों से ही उधार लिए गए शस्त्रों का उपयोग किया । लेकिन यह प्रवृति बहुत अल्पायु साबित हुई । ख़तरे के मुक़ाम को पार करते ही हिंदू समाज अपने अस्थायी भटकाव का त्याग करके फिर उसी जात-पात की लीक पर चल पड़ा[74]।"

ये सारे कवि साधारण लोगों के साथ रहते या साधारण जीवन जीते थे । कई राजा, मंत्री और राजकुमार जब सिद्धों के द्वारा दीक्षित हुए तो उनकी दीक्षा का पहला चरण ही यही था कि किसी निम्न जाति की स्त्री के साथ रहना शुरू करे और उसी के साथ उन्हीं लोगों के बीच जाकर वास करे जिस समाज से वह स्त्री आती है ।

सिद्ध कवि हमेशा प्रेम की संस्कृति को स्थापित करने पर ज़ोर देते थे । यही कारण है कि उनके दर्शन और विचारों के केंद्र में सहज जीवन रहा है । सहजता को उन्होंने सबसे महत्वपूर्ण मानवीय मूल्य के रूप में देखा और इसे अपनी रचनाओं के माध्यम से लोगों के बीच पहुँचाया । सिद्ध

---

[74] भारतीय सामन्तवाद, पृष्ठ 402 ।

संतों के लिए सहजता का मतलब था सहज मानवीय अनुभूति और मानव शरीर की जन्मजात सहज शक्ति । इन्हें बौद्ध सहज यानियों से जोड़कर देखा सकता है लेकिन यह हमेशा याद रखने की ज़रूरत है कि सिद्ध शैव सम्प्रदाय के भी काफ़ी क़रीब थे । भारतीय उपमहाद्वीप के लगभग सभी भागों से सिद्धों के वास के साक्ष्य मिलते हैं । अफगानिस्तान से लेकर बंगाल और असम तथा कश्मीर से लेकर तमिलनाडु तक हर जगह सिद्ध संतों का वास था ।

ब्राह्मण दर्शन पुरुष और स्त्री के संसर्ग को एक संस्कार के रूप में देखता है जिसके लिए उसने नियम तय कर रखे हैं । इस दर्शन के अनुसार 'संतानोत्पत्ति' पुरुष और स्त्री के मिलन का एक अनिवार्य प्रतिफल है । प्रेम और शारीरिक सम्बंध के मामले में ब्राह्मण दर्शन से अलग सिद्ध भी नहीं जाते लेकिन उससे आगे इन दोनो दर्शनो में बहुत अंतर दिखायी पड़ता है । सिद्ध इस जीवन-मरण के चक्र से छुटकारे की बात करते है और इसके लिए संतानोत्पत्ति मायने नहीं रखती । जब वे पुत्र और पुत्री की इच्छा से मुक्त होते है तो वैवाहिक सम्बंध का भी कोई मतलब नहीं रहता । इस प्रसंग को कृष्णपाद के इस गीत में बड़े अच्छे से देखा जा सकता है -

भब निर्भाणे[75] पड़ह मादल ।
मण-पबण बेणि करण्ड-कशाला[76] ।।
जा जा दुम्दुहि साब्द[77] उछलिआ ।
काह्न डोम्बि बिबाहे चलिला[78] ।।
डोम्बि बिबाहिअ अहारिउ जाम ।
जउतुके किअ आनुतु धाम ।।
अहनिसि[79] सुरअ पसाम्गे जाअ ।
जोइणी-जाले राआणी पोहाअ ।।
डोम्बीएर[80] सण्गे जो जोइ रत्तो ।
खणह ण चाड़अ सहज उन्मत्तो ।।

कृष्णपा कहते हैं कि जब वे डोम्बिनी के साथ महासुख की साधना में रत होते हैं तो उनके उन्मत्त होने में एक क्षण भी नहीं लगता । योग और तंत्र के इन साधकों को साधना के लिए अपनी

---

[75] भबनिर्भाणे, नीलरतन सेन ।

[76] हरप्रसाद शास्त्री ने इन दोनो करण्ड, कशाला को एक ही शब्द माना है ।

[77] साद्व, नीलरतन सेन । साद, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[78] उछलिला, बागची ।

[79] अहिणिसि, नीलरतन सेन ।

[80] डोम्बी-एरा, शाहिदुल्लाह ।

'जाति' और अपने 'परिवार' से बाहर की 'स्त्री' चाहिए होती थी । इस 'साधना' से जिस चीज़ के प्राप्ति होती है उसे वे 'सहज आनंद' या 'महासुख' कहते हैं । इस अवस्था की प्राप्ति के लिए किसी बाहरी वस्तु की ज़रूरत नहीं पड़ती। इसके लिए पुरुष स्त्री का सम रत होना ज़रूरी है । समरत से आशय पुरुष और स्त्री कर जननांगों का सामान होना कहा गया है । गुण्डरीपा अपने गीत में कहते हैं -

तिअडडा[81] चापि जोइणि[82] दे अङकबाली
कमल कुलिश घाण्ट[83] करहूँ बिआली
योइणि ताइ बिणु[84] खणहिं न जिबमि
तो मुह चुम्बी कमलरस पीबमि
खेपहु जोइणी[85] लेप न जाअ
मणिकुले[86] बहिआ ओड़िआणे सगाअ
सासु घरे घालि कोंचा ताल
चाँद सुज[87] बेणि पखा हाल[88]
भणइ गुडडरी[89] अम्हे कुन्दुरे धीरा[90]
नरअ नारि माझे उभिल चीरा

यहाँ यह कहना ज़रूरी है कि विद्वान कमल और कुलिश के संयोग के जितने दार्शनिक और यौगिक अर्थ निकाले वे इससे इंकार नहीं कर सकते कि यहाँ स्त्री और पुरुष के संयोग के क्षण का ही उदाहरण दिया गया है । चाँद और सूरज यानी दिन और रात के अंतर को नर और नारी के मिलन ने छिन्न भिन्न कर दिया है । इस गीत में जो स्त्री है शादी शुदा है पर उसने अपनी सास को घर में बंद कर दिया और साधना के लिए चली आयी है । बाद के संस्कृत तंत्र ग्रंथों में किसी भी प्रकार के जाति भेद दृढ़ता से नकारा गया है । यहाँ तक कि तंत्र साधना के लिए शक्ति के रूप में परकीया स्त्री का

---

81 तियड़ा, शाहिदुल्लाह ।

82 जोइनि, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

83 घण्टि, हरप्रसाद शास्त्री ।

84 बिनु, शास्त्री, बागची ।

85 जोइनि, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

86 मणिमूले, शाहिदुल्लाह ।

87 सूज, शाहिदुल्लाह ।

88 फाल, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

89 गुण्डरी, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

90 बीरा, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

होना अनिवार्य है। गुप्त-साधना-तंत्र नामक पुस्तक में नौ प्रकार की स्त्रियों को शक्ति साधना के लिए आदर्श मना गया है; नटी, वेश्या, धोबिन, नाइन, शुद्रा, दूधवाली, मालिन, कापालिक की बेटी और ब्राह्मण स्त्री । इस साधना के शक्ति आपकी पत्नी नहीं हो सकती । जो स्त्री अपनी सास को घर में बंद कर सके वही गुंडरि की शक्ति साधिका हो सकती । परिवार और विवाह संस्था का पतन इस साधना का लक्ष्य प्रतीत होता है । भुसुकुपाद के इस गीत को देखिए जिसमें ये चांडाल युवती को अपनी घरनी बनाने के लिए पूर्वी बंगाल तक चले गए -

बाजअ णाबअ[91] पाड़ी पाउआ-खाले बाहिउ ।
अदअ बँगाले[92] देश लुड़िउ ।।
आजि भुसुकु[93] बंगाली भइली ।
निअ घरिणी चण्डाली लेली ।।
डहि जो[94] पाँच पाटण इम्दि बिसआ णठा।
ण जाणमि[95] चिअ मोर कही गइ पइठा ।।
सोण तरुआ[96] मोर किम्पि ण ठाकिउ ।
णिअ[97] परिबारे महा नेहे[98] थाकिउ ।।
चउकोडि भण्डार मोर लइआ सेस ।
जिबन्ते मइलऐ नाहि बिषेशा ।।

'जीबन' या जीवन और मौत के अंतर को मिटा देने वाला आनंद जिस साधना से मिलता है भुसुक उसके लिए एक 'चंडाली' खोजते-खोजते बंगाली हो गए । यहाँ 'बंगाली' या 'भंगाली' शब्द किसी क्षेत्र का सूचक न होकर एक विशेष व्यक्ति के लिए प्रयोग हुआ है । वह व्यक्ति जिसकी स्त्री चंडाली हो । सिद्ध साहित्य को पुरानी बांगला कहने वाले विद्वान सबसे ज़्यादा इसी गीत को उद्धृत करते हैं जो हास्यास्पद प्रतीत होता है ।

---

91 राज नाब, हरप्रसाद शास्त्री ।

92 बंगाअल, शाहिदुल्लाह ।

93 भुसु, नीलरतन सेन ।

94 डहिअ, बागची और शाहिदुल्लाह ।

95 जानमि, शास्त्री और शाहिदुल्लाह ।

96 सोण तोरुअ, शास्त्री । सोण त रुअ, बागची । सोण रुअ,शाहिदुल्लाह ।

97 निअ, शास्त्री, शाहिदुल्लाह ।

98 महासुहे, शास्त्री, बागची और शाहिदुल्लाह ।

इन चर्यागितों में इस तरह के ढेरों उदाहरण हैं जब कवि अपनी रचना का अर्थ समझने के लिए पाठकों या श्रोताओं से गुरु की शरण में जाने का आह्वान करता है। भुसुकु कहते हैं -

बाधिसुआ जिम केलि करइ खेलइ बहुबिह खेड़ा ।
बालुआतेलै ससर सिम्गे आकाशे[99] फूलिला ।।
राउतु भणइ कट भुसुकु भणइ कट सअल अइस सहाब ।
जइ तो मूढ़ा अच्छसि भाण्ती पुच्छ तु सदगुरु पाब ।।

सद्गुरू की महिमा कितनी ज़रूरी है इसके बारे में डोम्बिपा कहते हैं -

गंगा जउना[100] माझें रे बहइ नाइ ।
तहिं चूडिली मातंगि पोइआ लीले पार करेइ ।।
बाह तू डोम्बि बाह लो डोम्बि बाठत भइल उछारा ।
सदगुरु पाअ पलुं[101] जाइब पुनु जिनउरा ।।

इन गीतों में अद्भुत रूप से प्रकृति का चित्रण हुआ है । गंगा की घाटी के ख़ासकर पूर्वी इलाक़ों में कैसा जीवन था इसका वर्णन इन गीतों में हुआ है । समाज में जाति प्रथा और उस कारण डोम जैसी जाति के लोगों का गाँव-समाज से बाहर जीवन बिताना । छुआ-छूत के कारण विभिन्न जातियों के बीच दूरी के का ज़िक्र भी हुआ है । जाति की सीमाओं को तोड़ने का काम सिद्ध कवियों ने किया । इन गीतों में बाँस के टोकरे बनाकर बेचने वाले डोम जाति के लोगों का वर्णन है -

नगर/मगर[102] बारि हिबें डोम्बि चोंचोंरीक डिआ ।
छई[103] छोई जाई सो बमहन दिआ[104] ।।

---

99 आकाश, शास्त्री और बागची । आकास, शाहिदुल्लाह ।

100 जउणा, नीलरतन सेन ।

101 पएं, नीलरतन सेन ।

102 यहाँ लगभग सभी विद्वानों ने 'मगर' को 'नगर' पढ़ा है । पर पाण्डुलिपि को देखने से साफ़ पता चलता है कि 'न' कि जगह 'म' लिखा है ।

103 छोइ, बागची, शाहिदुल्लाह ।

104 इसे नीलरतन सरकार 'बाम्ह नाढ़िआ' पढ़ते हैं । जबकि बागची और डॉक्टर शाहिदुल्लाह इसे क्रमशः 'बम्मण' और 'बम्हण' पढ़ते हैं ।

आल्लो डोम्बि तोए सम करिबे[105] म साअ[106] ।
निघिण कह्ण कापाली जोइ नाग ।।
एक सो पद्मा चोसठी[107] पाखुडी ।
तहिं चढ़ि नाचअ डोबी बापुडी ।।
पा डोम्बी तो पूछमि सदभावे ।
अइससि जासि डोम्बि काहरि[108] नाबें ।।
तांति/ताडि रिकणअ डोम्बी अबरना चंगेअ ।
तोहोर अन्तरे छाड़िन छएड़ा ।।
तू लो डोम्बि हाउ कपाली ।
तोर अन्तरे मोए घलिलि हाड़ेरि[109] माली ।।
सरबर भांजीअ डोम्बी खाअ मोलाअन ।
मारम डोम्बि लेमि परान ।।

कृष्णापाद ने दो और चर्यागीतों में डोम्बिनी का उल्लेख किया है । तिब्बती श्रोतों के अनुसार कणहपा या कृष्णपाद उड़ीसा के रहने वाले थे । डोम्बि के साथ अपनी साधना को समर्पित उनके तीनो चर्या में परिवार और विवाह जैसी संस्थाओं से उत्पन्न हुई बेबसी और बंधन से निकालने की छटपटाहट साफ़ देखी जा सकती है । जबतक कणहपा डोम्बिनी के साथ एक नहीं हो गए तबतक उन्हें इस बात की दर्द था कि,

डोम्बीएर[110] सण्गे जो जोइ रत्तो ।
खणह ण चाड़अ सहज उन्मत्तो ।।

शराब (ताड़ी) की दुकान चलने वाली महिला (सुंडिनी) उल्लेख है ।

एक से सुंडिनी[111] नी दूहि घरए सांधअ[112] ।

---

[105] करिब, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[106] नीलरतन सेन इसे 'सांग' पढ़ते हैं ।

[107] चौसठ्ठि, नीलरतन सेन, शाहिदुल्लाह ।

[108] काहेरि, शाहिदुल्लाह ।

[109] हाड़ेर, हरप्रसाद शास्त्री ।

[110] डोम्बी-एरा, शाहिदुल्लाह ।

[111] सुंडिणी, नीलरतन सेन ।

[112] संधइ, शाहिदुल्लाह ।

चीअण बाकालअ बारुणि बांधअ[113] ।।
सहजे थिर करि बारूणि सांधे ।
जै अजरामर होइ दिठ[114] कांधः ।।
दशमी दुआरत चीण देखइआ ।
आइल गराहक अपणे[115] बहिआ ।।
चउशठि घड़िये देढ़[116] पसारा ।
पइठेल गराहका नाहि निसारा ।।
एक सड़ूली सरुइ[117] नाल ।
भणंति बिरुआ थिर करि चाल ।।

सामान्य जन के बीच स्त्रियाँ कितनी आत्मनिर्भर थीं यह गीत उसका उदाहरण है। इसके दार्शनिक अर्थों में नहीं जाएँ तो यह प्रसंग दुकानदार और ग्राहक के रिश्तों का उदाहरण हमारे सामने रखता है। चौंसठ घरी पसार (फैला) के बैठ गयी है। जब तक ग्राहक बैठे हैं तब तक कोई निस्तार (छुटकारा) नहीं है।

इन गीतों में ऐसे दूधवालों का ज़िक्र है जिनके पास खाने को चावल नहीं है पर वो दार्शनिक हैं -

टालत मोर घर नाहि पड़बेषी ।
हाड़ीत भात नाहि निति आबेशी ।।
बेग[118] सम्सार बढ़िल[119] जाअ ।
दुहिल दुधु कि बेण्टे शामाअ[120] ।।
बलद बिआएल[121] गबिआ बाझे ।

---

113 बांधइ, शाहिदुल्लाह ।

114 दिट, हरप्रसाद शास्त्री ।

115 आपणे, शाहिदुल्लाह ।

116 देल, शास्त्री और बागची । देउ, शाहिदुल्लाह ।

117 सरूअ, शाहिदुल्लाह ।

118 बेंग, प्रबोध चन्द्र बागची ।

119 चढिल, शाहिदुल्लाह ।

120 सामा, नीलरतन सेन ।

121 बिआअल, प्रबोध चन्द्र बागची ।

पिटा[122] दुहिए ए तिना साझे[123] ।
जो सो बुधि सौध निबुधी[124] ।
जो सो चौर सौ दुशाधी ।।
निते निते शिआला शिहे शम जुझअ[125] ।
टेण्टणपाएर गीत बिचिरलै बुझअ ।।

टेण्टणपा उलटबाँसी शैली में कहते हैं कि मेंढक की तरह यह संसार बढ़ता जा रहा है, बछड़ा ब्या गया और गाय बाँझ है, जो बुद्धिमान है वही मूर्ख भी है और जिसे चोर कहते हैं वही ईमानदार है मेरे गीत को बिना विचार किए नहीं समझा जा सकता है । उलटबाँसी की शैली पर तो हम अगले अध्याय में विचार करेंगे पर यहाँ इतना कहना ज़रूरी है कि सामान्य लोगों के बीच इस शैली का जो असर है उसपर अब तक विचार नहीं किया गया है । जब किसी सामान्य व्यक्ति को यह कहा जाए कि 'बुद्धिमान' व्यक्ति भी मूर्ख हो सकता है और जिसे हम 'चोर' समझते हैं वह 'ईमानदार' हो सकता है तो यह समाज में बने 'सही' और 'ग़लत' की धारणा को चुनौती देने जैसा है । यही से हर तरह की संस्था परिवार, विवाह, समाज, राज्य, धर्म, जाति, लिंग रंग, भाषा, क्षेत्र आदि सारे अपनी महत्ता खो बैठते हैं । अपनी रचनाओं के माध्यम से सिद्धों ने यही किया । उन्होंने हर संस्थाओं पर सवाल खड़े किए और समाज में उथल-पुथल ला दिया । यहीं सिद्धों की लोकप्रियता और बदनामी का कारण है ।

नदियों के इस पार से उस पार तक फेरी लगने वाले नाविकों का वर्णन है । यहाँ नाविक गंगा पार करानेवाला भी है और भवसागर को पार करानेवाला भी । जो सहज और सुघड़ तरीक़े से बहाव के साथ चलता है वह पार कर जाता है । जो धारा के साथ बहना नहीं जानता वह पूरा का पूरा डूब जाता है ।

गंगा जउना[126] माझें रे बहइ नाइ ।
तहिं चूडिली मातंगि पोइआ लीले पार करेइ ।।
बाह तू डोम्बि बाह लो डोम्बि बाठत भइल उछारा ।
सदगुरु पाअ पलुं[127] जाइब पुनु जिनउरा ।।

---

[122] पिह्ढ़ा, शाहिदुल्लाह ।

[123] साझ्ये, नीलरतन सेन ।

[124] बुधी, नीलरतन सेन ।

[125] जूझइ, शाहिदुल्लाह ।

[126] जउणा, नीलरतन सेन ।

[127] पएं, नीलरतन सेन ।

पारी[128] केडुआल पड़न्ते मांगे पिटत[129] काछी बान्धी ।
गअण दुखोले[130] सिंचहुं पानी न पइसइ सान्धी ।।
चन्द[131] सुज्ज दुइ चक मिठी[132] संहार पुलिंदा ।
बाम दाहिन दुइ भाग न रेबउ[133] बाहतु छंदा ।।
कबडी न लेइ बोडी न लेइ सुघड़[134] पाड़ करेइ ।
जो रथे चलिला बाहबा नि जाइ कूले कूल बूड़इ[135] ।।

और प्रेमी जोड़ों का घने जंगलों के बीच गुफ़ाओं में अपनी रात बिताने का भी चित्रण है । आर्यदेव लिखते हैं,

जहिमन इंदिअ-पबण[136] हो णाथा ।
ण जाणमी अपा काहि गइ पइठा ।।
अकट करुणा डमरुलि[137] बाजअ[138] ।
आजदेब निराले[139] राजइ[140] ।।
चान्दरे चांदकान्ति जिम पतिभासअ ।
चिअ बिकरणे[141] ताहि टालि पइसइ[142] ।।

---

128 पाँच, नीलरतन सेन ।

129 पिठत, शास्त्री, बागची ।

130 गअणदुखोले, शास्त्री और बागची इसे एक ही शब्द मानते हैं ।

131 चांद, शाहिदुल्लाह ।

132 सिठि, नीलरतन सेन ।

133 चेबइ, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

134 सूच्चढ़े, नीलरतन सेन ।

135 बुलइ, बागची, शाहिदुल्लाह ।

136 बण, नीलरतन सेन ।

137 करुणा डमदुलि, प्रबोध चन्द्र बागची ।

138 बाजइ, शाहिदुल्लाह ।

139 णिरासे, शास्त्री और शाहिदुल्लाह ।

140 राजअ, प्रबोध चन्द्र बागची ।

141 चिअबि करणे, शाहिदुल्लाह ।

142 पइसअ, प्रबोध चन्द्र बागची ।

छाड़िअ भअ[143]-घिण लोआचार ।
चाहंते चाहंते सुण बिआर ।।
आजदेबै सअल बिहारिउ ।
भाया-घिण दुर निबारिउ[144] ।।

मैं कहाँ हूँ इसकी मुझे ख़बर नहीं है । डमरू की अकथ ध्वनि (नाद) गूँज रही है । गुफा के भीतर चाँद की चंद्रकांति (प्रेमिका या योगिनी) प्रतिभाषित हो रही है । अब हर तरह के घृणित लोकाचार को छोड़ने का समय आ गया है । आज माया, घृणा सबकुछ भुला दूँगा । दरअसल सिद्ध (सहजिया) साधना पद्धति जेंडर की पूरी विचारधारा को ही सिरे से ख़ारिज करता है । जेंडर के स्थापित नियम बताते हैं कि शारीरिक सम्बंध अपनी पत्नी से ही बनाए जा सकते हैं, सम्भोग के दौरान स्त्री को नीचे और पुरुष को ऊपर रहना चाहिए, रजस्वला स्त्री के साथ नहीं करना चाहिए और इसे बस संतानोत्पत्ति के लिए ही करना चाहिए । सिद्ध (सहजिया) साधकों ने इन नियमों को पूरी तरह उलट दिया । उन्होंने दूसरी जातियों ख़ासकर निम्न की स्त्री को युगल साधना में शामिल किया, पुरुष को नीचे और स्त्री को ऊपर रखा, संतानोत्पत्ति लक्ष्य नहीं था, रजस्वला अछूत नहीं थी आदि ।

सिद्धों की साधना पद्धति

यही सिद्धों की साधना पद्धति पर भी विचार कर लेना चाहिए । ब्राह्मण तंत्र ग्रंथो में दक्षिणाचार और वामाचार का वर्णन है । इन ग्रंथों में सिद्धों को वामाचारी कहा गया है । इसका कारण यह है कि साधना की दो पद्धतियाँ थी; एकक साधना और युगल साधना । जब कोई साधक बिना किसी 'साधक संगिनी' की सहायता के अकेले साधना करता था तो उसे 'एकक साधना' कहा जाता था । और जब कोई साधक स्त्री (शक्ति) की सहायता से साधना में रत होता था तो उसे युगल साधना कहा जाता था । नाथपंथी साधकों और सिद्ध संतों में यही अंतर है । नाथपंथी एकक साधक होते थे तो सिद्ध युगल साधक । बाद के संस्कृत ग्रंथों में इन्हें दायाँ हाथ- दक्षिणाचार (एकक साधना) और बायाँ हाथ- वामाचार (युगल साधना) के नाम से अलग किया गया । लेकिन यह दिलचस्प बात है कि इन दोनो साधनाओं के केंद्र में मानव शरीर है । दोनो साधनाओं का अंतिम लक्ष्य महासुख की प्राप्ति है । यही कारण है की इन दोनो धाराओं के साधकों का एक दूसरे में आना जाना लगा रहता था । नाथों ने अपने गुरुओं की सूची में कई सिद्धों को स्थान दिया है तो सिद्धों की सूची में नाथ संत भी शामिल हैं । सबसे मशहूर उदाहरण मछेंद्रनाथ का है जब असम जाकर उन्होंने अपनी साधना पद्धति बदल ली तब उन्हें 'मुक्त' कराने के लिए उनके शिष्य गोरखनाथ को वहाँ जाना पड़ा ।

---

[143] छाड़िअ भय, शास्त्री और बागची ।

[144] दूर णिबारिउ, बागची और शाहिदुल्लाह ।

'कुंडलिनी' को जागृत करना इन दोनो साधना पद्धतियों का लक्ष्य है । 'एकल साधक' या योगी इसके लिए 'प्राणा याम' का सहारा लेते हुए अपने स्वाँस पर नियंत्रण क़ायम करते हुए 'कुंडलिनी' को जागृत करने का प्रयास करते हैं, वही युगल साधक 'शक्ति साधना' का सहारा लेते हुए सम्भोग के द्वारा 'कुंडलिनी' को जागृत कर 'महासुख' की अवस्था को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं । सूफ़ी साधकों के द्वारा जो 'तसव्वुफ' का तरीक़ा अपनाया जाता है उसमें भी स्वाँस पर नियंत्रण करने की कोशिश की जाती है । सूफ़ी साधकों का यह तरीक़ा इस्लाम से पहले का है । और इसमें कोई शक नहीं की उस समय मध्य एशिया में बौद्ध धर्म उसकी शाखाओं का ज़बरदस्त प्रभाव था । सूफ़ियों का 'तसव्वुफ' बौद्ध तांत्रिक साधना पद्धति का ही एक रूप है[145] ।

बाद में जब वैष्णव तंत्र का प्रभाव बढ़ा तो उसने युगल साधना का ब्राह्मणीकरन कर दिया । सबसे पहले वैष्णव तंत्र ने पंचमकारों (मद्य, माँस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन) पर रोक लगाया । फिर उसने यह शर्त लगायी की दिन में वैदिक कर्मकांड किए जाएँ और रात को तांत्रिक साधना की जाए । उसमें साधक और संगिनी साधक एक दूसरे के लिए समर्पित होने चाहिए । साधकों के लिए एक चक्र निर्धारित किया गया जिसमें किसी बाहरी साधक का प्रवेश वर्जित था । साधक अपनी संगिनी के रूप में अपनी पत्नी का चुनाव करने लगे जिसे वेश्या की तरह अपने साधक को संतुष्ट करना होता था । यह एक तरह से वैदिक आधार पर विवाहित पति पत्नी के सम्बंध की पुनःप्रतिष्ठा थी।

योगिनी के बिना सिद्ध संत साधना करने की सोंच भी नहीं सकते । गुंडरिपा अपनी योगिनी से गाढ़ालिंगन करते हुए साधना में रत हो जाते हैं -

तिअडडा[146] चापि जोइणि[147] दे अङकबाली
कमल कुलिश घाण्ट[148] करहूँ बिआली
योइणि ताइ बिणु[149] खणहिं न जिबमि
तो मुह चुम्बी कमलरस पीबमि
खेपहु जोइणी[150] लेप न जाअ
मणिकुले[151] बहिआ ओड़िआणे सगाअ

---

145 Religion in indian history, ed. Irafan Habib, page 114.

146 तियड़ा, शाहिदुल्लाह ।

147 जोइनि, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

148 घण्टि, हरप्रसाद शास्त्री ।

149 बिनु, शास्त्री, बागची ।

150 जोइनि, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

151 मणिमूले, शाहिदुल्लाह ।

सासु घरे घालि कोंचा ताल
चाँद सुज[152] बेणि पखा हाल[153]
भणइ गुडडरी[154] अम्हे कुन्दुरे धीरा[155]
नरअ नारि माझे उभिल चीरा

चौरासी सिद्धों का परिचय

साहित्य के इतिहासकारों के लिए चौरासी सिद्धों में से कौन पहले हुआ और कौन बाद में यह एक उलझाने वाला सवाल है । इस सम्बंध में हर एक सम्प्रदाय के परस्पर विरोधी और दावे हैं। कोई लूइपा को आदि सिद्ध मानता है तो कोई सरहपा को। इस उलझन को सुलझाने का प्रयास करते हुए धर्मवीर भारती जी ने लिखा है -

"सिद्ध परम्परा में कभी भी आदि-सिद्ध ऐतिहासिक कालक्रम से नहीं निश्चित किया जाता था। प्रत्येक सम्प्रदाय अपने आम्नाय के प्रवर्तक को आदि-सिद्ध या आदिनाथ मानता था और यह सिद्ध करने का प्रयास करता था कि यह सिद्ध दूसरे रूप में, दूसरी काया में उन सभी सिद्धों का गुरु रह चुका है जो इसके ऐतिहासिक दृष्टि से इसके पहले हुए हैं। मीनपा कोस्पष्टतः मत्स्येन्द्र नाथ का पिता और और गुरु माना गया है किंतु फिर भी प्रमुख नाथ मत्स्येंद्र ही हैं, मीननाथ नहीं। बाद में गोरख के अनुयायियों ने गोरख को आदि शिव माना और अन्य सब नाथों को उनका अवतार माना। इससे यह सिद्ध सिद्ध होता है कि आदि-सिद्ध ऐतिहासिक कालक्रम नहीं वरन साम्प्रदायिक महत्व से निर्णीत होता था[156] ।"

यही इस तथ्य पर भी विचार ज़रूरी है कि चौरासी सिद्धों की संख्या में कितनी सच्चाई है। चौरासी की संख्या का महत्व योग, तंत्र, आसन आदि में रहा है। यह संख्या पवित्र मानी गयी है। इसलिए जब भी सिद्ध सम्प्रदाय या नाथ सम्प्रदाय ने अपनी परम्परा पर विचार किया तो अपने गुरुओं या आचार्यों की संख्या चौरासी बतायी। सिद्ध सम्प्रदाय के कितने ही संत नाथों के यहाँ भी मिल जाते हैं और कई नाथ संत सिद्धों की परम्परा में आते हैं। इसपर हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने काफ़ी पहले ध्यान दिलाया था।[157] सच तो यह है कि नाथ सम्प्रदाय पर सिद्धों का काफ़ी प्रभाव दिखता है। इसे नाथ

---

[152] सूज, शाहिदुल्लाह ।

[153] फाल, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[154] गुण्डरी, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[155] बीरा, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[156] सिद्ध साहित्य, डा. धर्मवीर भारती, पृष्ठ 45.

[157] हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ साहित्य।

संतों ने माना भी है। चौरासी सिद्धों की प्रामाणिकता को लेकर जो भी विवाद हो लेकिन यह सच है कि ये सारे संत अपभ्रंश और पुरानी हिन्दी के अच्छे कवि थे। इन संतों के विषय में राहुल सांकृत्यायन[158] ने जो जानकारी जुटाई थी उसके आधार पर आगे उनपर विचार किया जाएगा[159]।

[158] राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्व निबंधावली, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, १९३७।

[159] चौरासी सिद्धों के रेखाचित्र पुरातत्व निबंधावली से लिए गए। साथ ही सिद्धों का परिचय भी बहुत हद तक इसी किताब पर आधारित है। क्योंकि इस विषय पर अब तक सबसे गम्भीर कार्य राहुल सांकृत्यायन का ही है।

१–लूअिपा

२–लीलापा

1. **लुइपा**

आप मगध देश के निवासी थे और राजा धर्मपाल (769-809 ईसवी) के दरबार में कायस्थ थे और राहुल सांकृत्यायन इसीलिए इन्हें जाति का कायस्थ मानते हैं।

2. **लीलापा**

इनके विषय में बस इतनी जानकारी उपलब्ध है कि आप सरहपाद से तीसरी पीढ़ी में हुए थे।

3. **विरूपा**

मगध देश के रहने वाले थे और इनका समय राजा देवपाल (809-849 ईसवी) के बीच था। डा. धर्मवीर भारती ने लामा तारानाथ के हवाले से बताया है कि विरूपा नाम के कई सिद्ध थे। तारानाथ के एक ग्रंथ में तो विरूपा के विभिन्न अवतारों और चमत्कारों का वर्णन मिलता है। इनके

तीन नाम विरूपा, कालविरूप और धर्मपाल भी थे और ये नालंदा ओडियान तथा चीन में भी प्रकट हुए थे।[160]

4. **डोम्बिपा**

तारानाथ मगध के राजा के रूप में इनका परिचय देते हैं। ये क्षत्रिय थे और लुइपा के शिष्य थे[161]। इनका जन्मकाल 840 ई. रहा। इनके द्वारा इक्कीस ग्रंथों की रचना की गई, जिनमें 'डोम्बि-गीतिका', 'योगाचर्या' और 'अक्षरद्विकोपदेश' प्रमुख हैं।

5. **शबरपा**

५–शबरपा

६–सरहपा

७–कङ्कालीपा

८–मीनपा

[160] धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ५८।

[161]राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्व निबंधावली।

तारानाथ ने इन्हें नव-सरह के नाम से उद्धृत किया है । वे सरह की शिष्य परम्परा में तीसरे थे ।[162] राहुल सांकृत्यायन इन्हें सरह का शिष्य और लुइपा का गुरु बताते हैं। ये जाति के क्षत्रिय थे तथा विक्रमशिला के निवासी थे । एक पुस्तक में इन्हें जाति का नर्तक बताया गया है। शबरपा वज्रयोगिनी साधना के प्रवर्तक माने जाते हैं । इनके सोलह ग्रंथ तंजूर में संग्रहित मिलते हैं जिनमे से छः अपभ्रंश से अनूदित हैं ।

6. **सरहपा**

पहले इनका नाम राहुलभद्र था और यह ब्राह्मण थे। तारानाथ के अनुसार ये शैशव से ही वेद वेद वेदांगों के ज्ञाता थे, मध्यदेश में जाकर इन्होंने त्रिपिटकों का अध्ययन किया, बौद्ध धर्म में दीक्षा ली और नालंदा विश्वविद्याल में आचार्य के रूप में रहने लगे। उड़ीसा के एक आचार्य से इन्होंने मंत्रयान की दीक्षा ली और महाराष्ट्र जाकर एक शर बनाने वाली कन्या के साथ महामुद्रा योग सम्पन्न कर सिद्धि लाभ किया[163]। तिब्बती ग्रंथ स्तन्-ग्युर में सरहपा की 21 कृतियाँ संग्रहीत हैं। इनमें से 16 कृतियाँ अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी में हैं, जिनके अनुवाद भोट भाषा मेंमिलते हैं :

1. दोहा कोश-गीति
2. दोहाकोष नाम चर्यागीति
3. दोहाकोशोपदेश गीति
4. दोहा नाम
5. दोहाटिप्पण
6. वाक्कोशरुचिरस्वरवज्रगीति
7. चित्तकोशाजवज्रगीति
8. कायवाक्चित्तामनसिकार
9. दोहाकोष महामुद्रोपदेश
10. द्वादशोपदेशगाथा
11. स्वाधिष्ठानक्रम
12. तत्त्वोपदेशशिखरदोहागीतिका
13. भावनादृष्टिचर्याफलदोहागीति
14. वसंत- तिलकदोहाकोशगीतिका तथा
15. महामुद्रोपदेशवज्रगुह्यगीति
16. कायकोशामृतवज्रगीति।

---

[162] धर्मवीर भारती। सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ५०।

[163] वहीं, पृष्ठ ४९।

९–गोरक्षपा

१०–चौरंगिपा

११–वीणापा

१२–शान्तिपा

उक्त कृतियों में सर्वाधिक प्रसिद्धि दोहाकोष को ही मिली है। अन्य पाँच कृतियाँ उनकी संस्कृत रचनाएँ हैं-

1. बुद्धकपालतंत्रपंजिका
2. बुद्धकपालसाधन
3. बुद्धकपालमंडलविधि
4. त्रैलोक्यवशंकरलोकेश्वरसाधन एवं
5. त्रैलोक्यवशंकरावलोकितेश्वरसाधन।

7. **कंकालिपा**

१३–तन्तिपा

१४–चमारिपा

१५–जलन्धरपा

१६–नागार्जुन

यह मगध देश के निवासी थे। राहुल ने इन्हें शूद्र बताया है। इनके सम्बंध में ज़्यादा जानकारी उपलब्ध नहीं है।

8. **मीनपा**

मीनपा को मत्स्येंद्र नाथ का पिता तथा गुरु बताया जाता है। वे कामरूप के मछुआरे थे। मीनपा शैव सम्प्रदाय के बहुत नज़दीक थे। वे बौद्धों और शैवों के बीच सम्पर्क सेतु बन गए। इनके समय से ही बौद्ध तथा शैव तंत्र साधनाओं में अत्यधिक मिश्रण आरम्भ हुआ। इनका झुकाव संभवत शैवों की ओर अधिक था[164]। इसीलिए सिद्ध संतों और नाथों के बीच अंतर खोजना मुश्किल है। इनका जितना असर बौद्ध सिद्धों पर था उतना ही असर नाथ सम्प्रदाय पर भी पड़ा।

9. **गोरक्षपा**

---

164 वहीं, पृष्ठ ५४ ।

इनके सम्बंध में कोई ख़ास जानकारी नहीं मिलती है। गोरक्षपा और चौरंगिपा गुरु भाई थे।

10. **चौरंगिपा**

यह मगध देश के राजकुमार थे और गोरक्षपा के गुरु भाई थे।

11. **वीणापा**

राहुल इन्हें गौड़ (विहार) देश का राजकुमार बताते हैं। ये कणहपा के शिष्य बताए गए हैं। वे वीणा बजकर अपने पदों को गया करते थे। उनके चर्यापद में भी वीणा का ही रूपक है।

12. **शान्तिपा**

शान्तिपा ही प्रख्यात रत्नाकर शान्ति थे । वे विक्रमशिला विश्वविद्यालय के पश्चिमी द्वार के अधिष्ठाता थे। राहुल इन्हें मगध का ब्राह्मण बताते हैं। ये उदन्तपुरी, सोमपुरी, मालवा, सिंहल आदि का पर्यटन कर वेद-वेदांग त्रिपिटक आदि के प्रख्यात विद्वान हो गए थे। अपने समय के वे महान पण्डित थे और कलिकाल सर्वज्ञ कहे जाते थे[165]।

13. **तन्तिपा**

राहुल इन्हें जालंधर का शिष्य बताते हैं। परंतु तिब्बती स्त्रोतों के अनुसार ये उज्जैन के तन्तुवाय थे। तिब्बती ग्रंथ तंजूर में इनकी एक रचना 'चतुर्योग भावना' का उल्लेख मिलता है।

14. **चमारिपा**

ये चर्मकार थे और पूर्वदेश के किसी विष्णुनगर के निवासी थे। इनके सम्बंध में इससे ज़्यादा जानकारी उपलब्ध नहीं हैं[166]।

15. **खड्गपा**

राहुल के अनुसार यह चर्पटिनाथ के शिष्य थे और मगध के रहने वाले थे। यह जाति के शूद्र थे।

16. **नागार्जुन**

यह काँची देश के निवासी और सरह के शिष्य थे। यह जाति कर ब्राह्मण थे ।

17. **कणहपा (चर्यापा)**

ये सोमपुरी के रहने वाले कायस्थ थे। चर्यागीतिकोश में सबसे ज़्यादा गीत इन्हीं के मिलते हैं। तिब्बती ग्रंथ में इन्हें कर्नाटक वासी ब्राह्मण कहा गया है। इनके आठ शिष्य महासिद्ध हुए हैं। ये भी शैव सम्प्रदाय के बहुत निकट थे। इनके कई नाम मिलते हैं; कृष्णाचार्य, काणहपा, कृष्णवज्र आदि[167]। द्विवेदी जी ने इन्हें जुलाहा बताया है। जालंधरपा को इन्होंने अपना गुरु बनाया था। इनके लिखे चौहत्तर ग्रंथ बताए जाते हैं। यह पौराणिक रूढ़ियों और उनमें फैले भ्रमों के खिलाफ थे।

18. **कर्णरिपा (आर्यदेव)**

---

[165] धर्मवीर भारती, सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ५९-६०।

[166]राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्व निबंधावली।

[167] सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ५५ ।

१७–कण्हपा

१८–कर्णरिपा

१९–धगनपा

२०–नारोपा

ये नालंदा के रहने वाले थे। तारानाथ ने इन्हें नागार्जुन का शिष्य बताया है। इन्हें 'वैरागीनाथ' भी कहा गया है। तिब्बती ग्रंथ 'तंजूर' में इनकी रचना 'कानेर गीतिका' का उल्लेख मिलता है यही कारण है कि इन्हें दक्षिण भारत के महान सिद्ध कानेर से भी जोड़ा जाता है।

19. **धनगपा**

राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ये जाति के शूद्र थे तथा पूर्वी भारत के निवासी थे। ये महान सिद्ध शान्तिपा (रत्नाकर शान्ति) के गुरु थे[168]।

20. **नारोपा**

राहुल के अनुसार 'नारोपा' मगध के ब्राह्मण थे। इनके बारे में और जानकारी का अभाव है। धर्मवीर भारती इन्हें रत्नाकरशान्ति का गुरु बताते हैं।

---

[168]राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्व निबंधावली।

२१–शलिपा

२२–तिलोपा

२३–छत्रपा

२४–भद्रपा

21. **शलिपा (शीलपा)**

यह किसी 'विघसुर' के रहनेवाले थे। राहुल इन्हें जाति से शूद्र बताते हैं। इनके सम्बंध में और जानकारी उपलब्ध नहीं है।

22. **तिलोपा (तिल्लोपा)**

तिलोपा भीगुनगर के रहने वाले ब्राह्मण थे। ये 'नारोपा' के गुरु थे। तारानाथ के अनुसार ये ब्राह्मण थे और पूर्वी भारत में पैदा हुए थे। बौद्ध मत में आकर यह भिक्षु हो गए किंतु अपने क्षेत्र की एक तेलिन योगिनी से समागम कर इन्होंने सिद्धि लाभ की। उन्हें संघ से निकाल दिया गया अंत में इन्हें सहज विद्या की अनुभूति हुई[169]।

23. **छत्रपा**

---

[169] सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ६०।

२५–दोखन्धिपा

२६–अजोगिपा

२७–कालपा

२८–धोम्भिपा

यह 'संधोनगर' के रहनेवाले और जाति के शूद्र थे।

24. **भद्रपा**

ये मणिधर (राहुल जी इसे बघेलखंड के आधुनिक मैहर से जोड़ते हैं) के रहने वाले और ब्राह्मण जाति से थे। ये कणहपा के शिष्य थे।

25. **दोखंधि (द्विखंडि) पा**

इनके बारे में बस इतनी जानकारी उपलब्ध है कि यह किसी 'गंधपुर' के रहने वाले थे।

26. **अजोगिपा**

राहुल सांकृत्यायन के अनुसार यह गृहपति थे सालिपुत्र के रहने वाले थे।

27. **कालपा**

यह राजपुर के रहनेवाले थे और अवधूतिपा (11वीं शताब्दी) की तीसरी पीढ़ी में हुए थे।

28. **धोम्भिपा**

२९–कंकणपा

३०–कमरिपा

३१–डेंगिपा

३२–भदेपा

यह सालिपुत्र के रहने वाले और जाति के धोबी थे।

29. **कंकणपा**

कंकणपा का उल्लेख तंजूर में कोकदत्त के रूप में है और इनका दूसरा नाम कोंकणपा भी बताया गया है। ससक्य-विहार की सूची में इन्हें विष्णुनगर का राजपुत्र बताया गया है। हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार ये कम्बलपा के शिष्य थे[170]।

30. **कमरि (कम्बल) पा**

---

170 सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ५७।

यह उड़ीसा के रहने वाले और घंटापा के शिष्य थे। ये घंटापा सहजयोगिनी चिंता के शिष्य वज्रघंटा थे। इन्हें कम्बलाम्बरपा भी कहा जाता है और ये चक्रसंबर तंत्र के अनुयायी थे। इनका सम्बंध तीर्थिक वैष्णवों से भी था[171]

31. **डेंगिपा**

यह जाति के ब्राह्मण, लुइपा के शिष्य थे और उड़ीसा के सालिपुत्र के रहनेवाले थे।

32. **भदेपा**

भदेपा काण्हपा के शिष्य थे और श्रावस्ती के रहनेवाले थे।

33. **तंधे (तंते) पा**

राहुल इन्हें जाति का शूद्र और कोशांबी का रहनेवाला बताते हैं।

34. **कुकुरिपा**

राहुल के अनुसार कुकुरिपा कपिलवस्तु के ब्राह्मण थे। तारानाथ ने इनको मीनपा का गुरु तथा चर्पटी का शिष्य बताया है। तंजूर में इनके सोलह ग्रंथों का उल्लेख मिलता है जिनमें से सम्भवतः तीन अपभ्रंश में थे। ये लगभग दसवीं सदी में वर्तमान थे[172]।

---

[171]राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्व निबंधावली।

[172] सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ५३ ।

३३–तन्धेपा

३४–कुकुरिपा

३५–कुसुलिपा

३६–धर्मपा

35. **कुचि (कुसुली) पा**

यह 'करि ' देश के रहने वाले तथा जाति के शूद्र थे।

36. **धर्मपा**

राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ये विक्रमशिला के रहने वाले जाति के ब्राह्मण थे। धामपा के ग्रंथ तंजूर में मिलते हैं जिनमें से सम्भवतः एक 'सुगत दृष्टि गीतिका' अपभ्रंश में है[173]।

---

173 वहीं, पृष्ठ ५६ ।

४१–भूसुकुपा

४२–इन्द्रभूति

४३–मेकोपा

४४–कुठालिपा

37. **महीपा (महिलपा)**

महीपा काण्हपा के शिष्य थे। राहुल के अनुसार यह मगध देश के रहनेवाले और जाति के शूद्र थे।

38. **अचिंतिपा**

राहुल ने इन्हें एक लकड़हारा बताया है और यह किसी धनिरूप नामक जगह के रहनेवाले थे।

39. **भलह (भव) पा**

यह किसी धंजूर देश के रहने वाले थे और जाति के क्षत्रिय थे।

40. **नलिनपा**

इनके बारे में बस इतनी जानकारी उपलब्ध है कि यह सालिपुर देश के रहने वाले थे।

41. **भुसुकपा**

महामहोपाध्यय हरप्रसाद शास्त्री इन्हें ही 'शिक्षा समुच्चय' और 'बोधि चर्यावतार' का लेखक मानते हैं। भुसुकुपा जाति के क्षत्रिय थे। उनकी जन्मभूमि के विषय में मतभेद है, राहुल उन्हें मगध का निवासी बताते हैं तो तारानाथ सौराष्ट्र या महाराष्ट्र का। यह कहा जा सकता है कि उनका जन्म दक्षिण में हुआ था परंतु उनका जीवन पूर्वी प्रदेशों में बीता और वे अराकान (बर्मा) तक गए थे [174]।

42. **इंद्रभूति**

इंद्रभूति लंकापुर के राजा थे। वे अनंगवज्र और कम्बलपा के शिष्य थे।

43. **मेकोपा**

मेकोपा एक व्यापारी थे और ये भंगलदेश के रहने वाले थे।

44. **कुठालि (कुद्दाली) पा**

४५–कर्मारपा

४६–जालन्धरपा

४७–राहुलपा

४८–घर्घरिपा

[174] सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ५८-५९ ।

यह शान्तिपा के शिष्य थे और रामेश्वर के रहने वाले थे।

45. **कर्मार (कम्परि) पा**

राहुल सांकृत्यायन के अनुसार यह जाति के लोहार थे और सालिपुत्र के रहने वाले थे ।

46. **जालन्धरपा**

लामा तारानाथ इन्हें पश्चिम में स्थित सिंधु देश के ठाठ नगर का निवासी और जाति का शूद्र बताते हैं । इन्होंने ओडियान में दीक्षा ली थी और ये कुछ दिनो तक नेपाल में भी रहे थे । इनका शैव परम्परा से भी घनिष्ठ सम्बंध रहा होगा, क्योंकि नाथ-परम्परा में इन्हें आदिनाथ माना गया है । इनके सात ग्रंथ तंजूर में उपलब्ध हैं जिनमें से दो अपभ्रंश में थे। इनके शिष्यों में कृष्णाचार्य, बुद्धज्ञानपा, तन्तिपा, भर्तृहरि, गोपीचंद्र आदि थे जिनमें से कृष्णाचार्य अथवा काण्हपा को प्रमुखतम बताया गया है[175]।

४९–धोकरिपा

५०–मेदिनीपा

५१–पङ्कजपा

५२–घण्टापा

[175] सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ५४।

47. **राहुलपा**

यह सरह से तीसरी पीढ़ी में हुए। कामरूप के रहने वाले थे और जाति के शूद्र थे ।

48. **धर्वरि (धर्भरि) पा**

विरूपा से चौथी पीढ़ी में हुए और बोधिनगर के रहने वाले थे ।

49. **धोकरिपा**

इनके बारे में बस इतनी जानकारी उपलब्ध है कि ये सालिपुत्र के रहने वाले और जाति के शूद्र थे ।

50. **मेदनीपा**

राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि इन्हें हालीपा भी कहते हैं । यह किसी लाखपुय के रहने वाले थे।

51. **पंकजपा**

यह जाति से ब्राह्मण और नागार्जुन के शिष्य थे ।

५३—जोगीपा

५४—चेलुकपा

५५—गुण्डरिपा

५६—लचिकपा

52. **(वज्र) घण्टापा**

यह देवपाल (809-849 ईसवी) के समकालीन थे । इन्हें वारेंद्र देश का निवासी बताया गया है । राहुल इन्हें जाति का क्षत्रिय बताते हैं ।

53. **जोगीपा (अजोगिपा)**

यह जाति के डोम थे और उदन्तपुरी के रहने वाले थे । वे शबरपा के शिष्य थे ।

54. **चेलुकपा**

इन्हें शूद्र जाति का बताया जाता है और ये भंगलपुर देश के रहने वाले थे । इन्हें अवधूतिपा का शिष्य कहा गया है ।

५७–निर्गुणपा

५८–जयानन्त

५९–चर्पटीपा

६०–चम्पकपा

55. **गुंडरिपा (गोरूर) पा**

यह जाति से चिड़ीमार या बहेलिया थे। इन्हें डिसुनगर का निवासी कहा गाय है और ये लीलापा के शिष्य थे ।

56. **लुचिकपा**

यह भंगलदेश के रहने वाले ब्राह्मण थे ।

57. **निर्गुणपा**

इनके बारे में बस इतना पता है कि ये पूर्व देश के रहने वाले थे और जाति के शूद्र थे ।

58. **जयानंत**

यह भगलपुर के रहने वाले ब्राह्मण थे ।

59. **चर्पटी (पचरी) पा**

६१–भिखनपा

६२–भलिपा

६३–कुमरिपा

६४–जवरिपा (?)

यह जाति के कहार थे । तिब्बती ग्रंथों में इन्हें 'बहँगी बेचने वाला, भार बेचनेवाला' कहा गया है । यह मीनपा के गुरु थे ।

60. **चम्पकपा**

इनके बारे बस यही पता है कि ये किसी देश के राजकुमार थे ।

61. **भिखनपा**

यह सालिपुत्र के रहनेवाले जाति के शूद्र थे ।

62. **भलिपा**

यह सतपुरी के रहने वाले थे। राहुल जी ने इनकी जाति के बारे लिखा है कि ये 'कृष्णघृत्तवणिक' थे ।

६५–मणिभद्रा

६६–मेखला

६७–कनखला

६९–कन्तालिपा

63. **कुमरिपा**

७०–धहुलिपा

७१–उधलिपा

७२–कपालपा

७३–किलपा

इनके बारे में बस इतना पता है कि ये किसी 'जोमनश्रीदेश' के रहने वाले थे ।

64. **चवरिं (जवरी = अजपालि) पा**

ये काण्हपा की तीसरी पीढ़ी में हुए ।

65. **मणिभद्रा (योगिनी)**

ये जाति से गृहदासी थीं । मगध की रहने वाली और कुकुरिपा की शिष्य थीं ।

66. **मेखलापा (योगिनी)**

ये काण्हपा की शिष्य थीं । 'अगचेनगर' नामक किसी देश की रहने वाली और गृहपति की कन्या थीं ।

67. **कनखलापा (योगिनी)**

देविकोट की रहने वाली कनखलापा काण्हपा की शिष्या थीं ।

68. **कलकलपा**

यह जाति के शूद्र थे और भिरलिरनगर के रहने वाले थे । इससे ज़्यादा जानकारी उपलब्ध नहीं है ।

69. **कंताली (कन्थाली) पा**

ये पेशे से दर्ज़ी और मणिधर (मैहर) के रहने वाले थे । काण्हपा इनके गुरु थे ।

70. **धहूलि (धहुरि) पा**

यह किसी धेकरदेश के रहने वाले थे और राहुल इन्हें शूद्र जाति का बताते हैं ।

71. **उधलि (उधरि) पा**

यह कर्णरिपा के शिष्य थे। देविकोट के रहने वाले उधरिपा जाति के वैश्य थे ।

72. **कपाल (कमल) पा**

यह राजापुरी के रहने वाले जाति के शूद्र थे ।

73. **किलपा**

७८–पुतुलिपा

७९–घनहूपा

८०–कोकालिपा

८१–अनङ्गपा

यह किसी 'प्रहर' या 'सहर' के राजकुमार थे ।

74. **सागरपा**

इनके बारे में राहुल लिखते हैं कि ये 'काँची' देश के राजा थे ।

75. **सर्वभक्षपा**

यह महर या सहर के रहने वाले थे । इनकी जाति शूद्र थी और ये भुसुक के शिष्य थे ।

76. **नागबोधिपा**

यह पश्चिम भारत के रहने वाले थे । ये जाति से ब्राह्मण थे और नागार्जुन के शिष्य थे ।

77. **दारिकपा**

दारिकपा को तारानाथ ने उड़ीसा का राजा बताया है जो अपने मंत्री ढ़ेंपीका के साथ लुइपा के शिष्य हो गए थे । तिब्बती ग्रंथ से पता चलता है कि लुइपा ने उड़ीसा आकर इन्हें दीक्षा दी और कुछ

दिनो कांचिपुर में एक गणिका की सेवा कर सिद्धि-लाभ करने का आदेश दिया । तब इनका नाम दारिकपा हुआ । इनके मंत्री ब्राह्मण थे किंतु एक शुंडनी (कलाली) की ढेंकी पर काम करने के कारण उनका चर्यानाम ढ़ेंकिपा हो गया । दारिकपा के दस ग्रंथों का उल्लेख तंजूर में है जिनमे से संभवतः तीन अपभ्रंश में थे[176]।

78. **पुतुलिपा**

यह भंगलदेश के रहने वाले और जाति के शूद्र थे ।

79. **पनह (उपानह) पा**

यह संधोनगर के रहने वाले और जाति के चमार थे ।

80. **कोकालिपा**

यह चंपारन देश के रहने वाले थे । राहुल इन्हें राजकुमार बताते हैं ।

81. **अनंगपा**

यह डोम्बिपा की तीसरी पीढ़ी में हुए थे और गौड़ देश के रहने वाले थे । इनकी जाति शूद्र थी ।

82. **लक्ष्मीकरा (योगिनी)**

ये संभलनगर (संभलपुर, बिहार) की राजकुमारी थीं । राहुल सांकृत्यायन के अनुसार ये राजा इंद्रभूति की बहन थीं ।

83. **समुदपा**

समुदपा 'सर्वडिदेश' के रहने वाले थे । राहुल इसे आधुनिक गोरखपुर ज़िले का 'सर्वार' नामक स्थान बताते हैं ।

84. **भलि (व्यालि) पा**

यह जाति से ब्राह्मण थे और 'अपत्रदेश' नामक किसी जगह के रहने वाले थे ।

आजि भुसुकु[177] बंगाली भइली ।
निअ घरिणी चण्डाली लेली ।।

इस सूची से कई बातें सामने आती हैं। सिद्ध संत भारतीय उपमहाद्वीप के बहुत बड़े हिस्से से आते थे। इस सूची में ब्राह्मण भी है और शूद्र भी, स्त्री भी है और पुरुष भी, राजा भी है और भिखारी भी । इन संतों में जाति, लिंग, क्षेत्र और वर्ग की कोई सीमा रेखा नहीं है । शूद्र संत ब्राह्मण का गुरु है। योगिनी ब्राह्मण और पुरुषों की गुरु है । राजा और राजकुमार शूद्र को अपना गुरु मानते है उसके निर्देशों का पालन करते हुए साधना करते हैं ।

---

[176]राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्व निबंधावली।

[177] भुसु, नीलरतन सेन ।

निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि 'लोक' की अवधारणा से आशय सामान्य जनता के नज़रिए से उसके पक्ष को आवाज़ देने वाली दृष्टि से है । शोध के शीर्षक में उल्लिखित 'लोकदृष्टि' शब्द का यही आशय है । सिद्ध सामान्य जन के बीच उनकी भाषा में न सिर्फ़ काव्य रचना करते थे बल्कि उनके बीच रहते भी थे । जंगलों में आदिवासियों के साथ उनकी जीविका को अपनाकर जीवन यापन करने वाले सिद्ध संत लोकदृष्टि के सच्चे प्रतिनिधि हैं ।

जाति प्रथा और हिंदू कर्मकाण्ड को पूरी तरह नकारने वाले ये सिद्ध संत अपने समय में और आज भी प्रेम और घृणा दोनो के पात्र बनते रहे हैं । पितृसत्ता को जितनी गम्भीर चुनौती सिद्ध संतो ने अपने जीवन और साहित्य से दिया वैसी चुनौती उन्हें पहले इतिहास में कभी नहीं मिली थी । सिद्ध संतों ने हमेशा सामान्य और सहज जीवन दृष्टि का संदेश दिया। जो प्राकृतिक है, जो सहज है, वही सिद्ध काव्य की दृष्टि है । उनकी लोकदृष्टि।

अध्याय 5.

सिद्ध कविता का रूप विधान

अपभ्रंश के विविध भाषिक रूपों से ही आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का विकास हुआ है, लेकिन इस विकास का व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक अध्ययन अब तक नहीं हो पाया है । अपभ्रंश के अज्ञात एवं अनुपलब्ध साहित्य की उपलब्धता सुनिश्चित करने के बाद ही आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की विकास यात्रा का वैज्ञानिक अध्ययन किया जा सकता है । अब तक हमारे पास अपभ्रंश की जो सामग्री उपलब्ध है, उसके आधार पर आधुनिक आर्य भाषाओं की विकास यात्रा की सारी कड़ियां अलग-अलग सुस्पष्ट रूप से जोड़ पाना दुष्कर है ।

आज हिंद, मराठी, गुजराती, बांग्ला आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में केवल उच्चारणगत भेद ही नहीं हैं, बल्कि इनमें भाषागत भिन्नता भी है । अब तक हमें जो अपभ्रंश साहित्य उपलब्ध हैं, उनका नामकरण भले ही अलग क्षेत्रों के आधार पर हुआ हो, किन्तु ये उस युग में विविध क्षेत्रों में उपयोग में लायी जाने वाली भिन्न भाषाएँ नहीं थीं, बल्कि एक ही मानक अथवा साहित्यिक अपभ्रंश के क्षेत्रीय रूपों की तरह दिखायी देती हैं । आचार्य शुक्ल ने सिद्ध काव्य को साम्प्रदायिक साहित्य मानते हुए उसे 'शुद्ध साहित्य' से बाहर रखा परंतु सिद्ध काव्य की भाषा पर विचार करते हुए अपनेहिन्दी साहित्य का इतिहास में वे लिखते हैं -

"उन्होंने भरसक सर्वमान्य व्यापक काव्यभाषा में लिखा है जो उस समय गुजरात, राजपुताने और ब्रजमंडल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्ट भाषा थी । पर मगध में रहने के कारण सिद्धों की भाषा में कुछ पूरबी प्रयोग भी (जैसे, भइले, बूड़िलि) मिले हुए हैं। पुरानी हिन्दी की व्यापक काव्यभाषा का ढाँचा शौरसेनीप्रसूत अपभ्रंश अर्थात ब्रज और खड़ी बोली (पश्चिमी हिन्दी) का था । वही ढाँचा हम उद्धृत रचनाओं के -

जो, सो, मारिआ, पइठो, जाअ, किज्जइ, करंत, जावे (जब तब) ताब (तब तक) मइअ, कोइ इत्यादि प्रयोगों में पाते हैं। ये प्रयोग मागधी प्रसूत पुरानी बांगला के नहीं, शौरसेनी प्रसूत पुरानी पश्चिमीहिन्दी के हैं। सिद्ध कणहपा की रचनाओं को यदि हम ध्यान पूर्वक देखें तो एक बात साफ़ झलकती है। वह यह कि उनके उपदेश की भाषा तो पुरानी टकसालीहिन्दी (काव्यभाषा) है, पर गीत की भाषा पुरानी बिहारी या पूरबी बोली मिली है। यही भेद हम आगे चलकर कबीर 'साखी' , 'रमैनी' (गीत) की भाषा में पाते हैं। साखी की भाषा तो खड़ी बोली राजस्थानी मिश्रित सामान्य भाषा 'सधुक्कड़ी' है पर रमैनी के पदों की भाषा में काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली भी है ।

सिद्धों में 'सरह' सबसे पुराने अर्थात विक्रम संवत ६९० के हैं। अतः हिन्दी काव्यभाषा के पुराने काव्यरूप का पता हमें विक्रम की सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में लगता है
[178]।"

यह भी सच नहीं लगता कि दसवी-बारहवीं शताब्दी के बाद तो भिन्न-भिन्न भाषाएँ विकसित हो गई हों किन्तु उसके पूर्व भाषिक अन्तर न रहे हों । आधुनिक युग में 'भारतीय आर्य भाषा क्षेत्र' में जितने भाषिक अन्तर मिलते हैं वह अपभ्रंश युग में भी रहे होंगे । यह भाषा के विकास से सम्बंधित यह एक मानी हुई बात है कि सामाजिक सम्पर्क जितना सघन होता है, भाषा विभेद उतना ही कम होता है यह बात उस युग के लिए भी कही जा सकती है । पूर्व मध्यकाल में सामाजिक सम्पर्क कोई कम नहीं था । भूदान के कारण बड़ी संख्या में आबादी का स्थानांतरण हो रहा था ।

अपभ्रंश साहित्य की विभिन्न शैलियाँ

अब यही पर अपभ्रंश साहित्य की शैलियों पर विचार किया करना भी ज़रूरी हो जाता है । इन शैलियों को विस्तार से समझना इसलिए भी ज़रूरी है क्योंकि सिद्ध काव्य के ऐसे अर्थ भी हैं जिनको खोलने में इनकी मदद ली जा सकती है । आदिकाल के साहित्य में 'प्रबंध' और 'मुक्तक' दोनो प्रकार की रचनायें की जा रही थी । 'प्रबंध' और 'मुक्तक' में अंतर होता है । जहाँ 'प्रबंध' में श्रृंखलाबद्ध कथा होती है और इसका प्रत्येक पद्य परस्पर सम्बद्ध और अर्थ की दृष्टि से प्रसंगों के अनुकूल होता है, वही 'मुक्तक काव्य' की प्रत्येक इकाई अपने में पूर्ण और स्वतंत्र होती है । आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार मुक्तकों के लक्षण निम्नलिखित हैं,

(1) पद्य की प्रत्येक इकाई का दूसरी इकाई से असम्बद्ध होना ।
(2) अपने विषय को व्यक्त कर सकने की क्षमता से युक्त होना ।
(3) प्रबंध के मध्य प्रसंगानुसार समाविष्ट हो सकने की समर्थता ।
(4) रसनिष्पत्ति के लिए पूर्वापर प्रसंग या इकाई की अनपेक्षता ।[179]

मुक्तक एक कलाप्रधान काव्यरूप है । इसकी कलात्मकता इसी बात से सिद्ध है कि सीमित मात्राओं या वर्णों के छंद में या सीमित पंक्तियों के गेय पदों में असीमित भाव भर दिये जाते हैं । इसकी एक और विशेषता संगीतात्मकता भी है । अगर इन सभी मुक्तक काव्य रूपों को एक क्रम में रखा जाए, तो वे कुछ इस तरह होंगी ।

---

[178]हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १२।

[179] ध्वन्यालोक, उद्योत 3, पृष्ठ 143-44।

(१) मातृका, बावनी, कक्क ।

(२) विवाहली, धवल, मंगल और वेलि ।

(३) संवाद, वाद, झगड़ो और गोष्ठी ।

(४) बारहमासा, महीना, षडऋतुवर्णन और चौमासा ।

(५) तीर्थमाला, चैत्यपरिपाटी, संघवर्णन, पट्टावली और गुर्वावली आदि ।

(६) जन्माभिषेक, पट्टाभिषेक, कलश आदि ।

(७) शतक, बहोत्तरी, छत्तीसी, चौबीसी आदि ।

(८) प्रबंध, चरित, आख्यान, संबंध और कथा आदि ।

(९) स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, चैत्यवंदन, देववंदन, वीनती और नमस्कार आदि ।

(१०) नवरस, रसावली, रसायन एवं रसलहरी आदि ।

(११) माला, नाममाला, रागमाला, कोष और संघात आदि ।

(१२) चन्द्रावली, दीपक, प्रदीपिका और प्रकाश आदि ।

(१३) गरबा, हालरियो, रसोई और कड़ा आदि ।

(१४) होरी, धमालु, चाँचरि आदि ।

(१५) हीयाली, गूढ़ा, प्रहेलिका, कूट तथा समस्या ।

(१६) प्रभाती, मंगल, बधावा, साँझ और गहूली आदि[180] ।

आगे संक्षेप में कुछ शैलियाँ की चर्चा करेंगे जो इस तरह हैं -

सुभाषित' मुक्तक काव्य की सबसे लोकप्रिय शैली रही है । यह शैली काफ़ी पुरानी है और संस्कृत में भी इस शैली की रचनाएँ की जाती रही हैं । सुभाषित किसी एक व्यक्ति की रचना न

---

[180] वही, पृष्ठ 489 ।

होकर समूचे समाज के ऐतिहासिक अनुभव की उपज होती है परंतु यह ज़्यादातर किसी न किसी ऐतिहासिक और चर्चित व्यक्ति के नाम के साथ सम्बंधित होता है । इनको प्रचारित करने का श्रेय समूचे समाज को जाता है । मौखिक रूप से समाज के द्वारा इसके प्रयोग के कारण ही इसे 'मुहावरा' भी कहा जाता है । हिन्दी के सुभाषित संग्रहों में में जितनी संस्कृत से ली गयी रचनायें है उतनी ही उर्दू के माध्यम से अरबी और फ़ारसी की भी हैं । इसका श्रेय मध्यकाल के कवियों को जाता है । हिन्दी साहित्य के आदिकाल में जैन आचार्य मेरुतुंग द्वारा अपभ्रंश भाषा में रचित 'प्रबंधचिंतामणि' में भी सुभाषित रचनाओं का संग्रह है । उदाहरण के लिए इन पंक्तियों को देखें -

मुंज भणइ मुणालवइ जुब्वण गयुं न झूरि ।
जइ सक्कर सयखंड थिय तो इस मीठी चूरि[181] ।।

सोमप्रभ सुरि की रचना 'शार्ंगधर पद्धति' तो पूरी तरह सुभाषित संग्रह ही है । गोरखबानी में भी इस तरह की उक्तियाँ भरी पड़ी हैं ।

(क) **'अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा[182] ।**
(ख) **'तीणि जने का संग निवारौ, नकटा बूचा काणा[183] ।**

मुक्तक रचनाओं की एक शैली 'मुकरी'[184] के नाम से जानी जाती है । मुकरी शैली का सम्बंध अमीर खुसरो की रचनाओं के साथ अभिन्न है । हम यदि 'ख़ालिक़बारी' को आदिकाल की रचना माने तो मुकरी एक विधा के रूप में इसी वक़्त शुरू हुई थी । मुकरी का सम्बंध पहेलियों से है लेकिन इसमें प्रश्न और उत्तर एक ही पद्य में समाहित होते हैं । इसका मुकरी नामकरण मुकरने के भाव से जुड़ा हुआ है । अगर हम इस शैली की संरचना पर ध्यान दें तो कुछ चीज़ें साफ़ दिखाई देती हैं । इसमें जिज्ञासा, कौतूहल, रहस्यगोपन, और फिर रहस्योद्घाटन का क्रम स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है । कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है -

मेरा मोसे सिंगार करावत । आगे बैठिके मान बढ़ावत ।
वासे चिक्कन ना कोउ दोसा । क्यों सखी साजन ना सखी सीसा[185] ।।

सिगरी रैन मोहि संग जागा । भोर भया तब बिछुरन लागा ।

---

[181] हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृष्ठ 505 ।

[182] वही ।

[183] वही ।

[184] वही, पृष्ठ 507 ।

[185] वही ।

वाके बिछुरत फाटे हिया । क्यों सखी साजन नहिं सखी दिया[186] ।।

किसी व्यक्ति को संदेह या संशय में डालकर उसकी बुद्धि की परीक्षा का प्रचलन हमारे यहाँ की एक बहुत पुरानी परम्परा रही है । यह हमारे लोकाचार से भी जुड़ा रहा है । शादियों में वर पक्ष और वधु पक्ष के बीच शास्त्रा र्थ की एक परम्परा रही है और पहेलियों[187] का इसमें ज़बरदस्त इस्तेमाल होता रहा है । अब भी जैनों और जैनोत्तर समाज में यह प्रथा जारी है । बालकों की तर्कशक्ति की परीक्षा लेने और उसे विकसित करने के लिए भी पहेलियों का इस्तेमाल किया जाता है । बालसाहित्य के रूप में इसका इस्तेमाल किया जाता है । 'माधवानल कामकंदला चौपाई' के रचयिता गणपति ने पहेली के चार प्रकार गिनाएँ हैं - (1) आद्याक्षरी, (2) मध्याक्षरी, (3) अन्त्याक्षरी ।[188] हिन्दी पहेलियों के संस्करण तो प्रकाशित हुए होंगे, पर कोई रचना नहीं मिली है । ये पहेलियाँ काफ़ी दिलचस्प होती हैं । कुछ पहेलियों में कई प्रश्नो का उत्तर एक ही होता है और कुछ में प्रत्येक प्रश्न का उत्तर अलग-अलग होता है । पहले तरह की पहेली का उदाहरण है -

पान सड़े घोड़ा अड़े, विद्या बीसर जाय ।
चूल्हे पै रोटी जले, चेला कौन उपाय ।।

इसका उत्तर है 'फेरा न गया' । इसी प्रकार दूसरे तरह की पहेली का उदाहरण तुलसीदास के नाम से बताई जाने वाली इन पंक्तियों में देखा जा सकता है -

काह न अबला की सकै, काहि न समुद समाय ।
का नहीं पावक में जरै, काहि न कालहि खाय[189] ।।
इसमें चार प्रश्न हैं, जिनके उत्तर भी चार हैं -
सुत नहीं अबला करि सकै, जस नहीं समुद समाय ।
पुण्य न पावक में जरै, नाम न कालहिं खाय[190] ।।

यह बात ध्यान देने की है कि कुछ पहेलियों में विरोधाभास की शैली का भी इस्तेमाल किया गया है । इसका एक उदाहरण है -

---

186 वही ।

187 प्रहेलिका के रूप में इसकी परिभाषा काव्यादर्श में देते हुए कहा गया है ।
'व्यक्तीकृत्य कमप्यर्थं स्वस्यार्थस्य गोपनात ।
यंत्र बाह्यांतरावर्थी कथ्यंते ताः प्रहेलिका ।।

188 हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास, खंड, 3, पृष्ठ 508।

189 हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास, खंड 3, पृष्ठ 508 ।

190 वही ।

पीलो पर पोपट नहीं, कालो पर नहीं काग ।
पंखों पर पंखी नहीं, डँसे पर नहि नाग[191] ।।

अपभ्रंश मुक्तक काव्य का एक रूप 'हीयाली गुढा' के नाम से जाना जाता है । इसे पहेली और समस्यापूर्ति के बीच की शैली के रूप में भी समझा जाता है । 'हियाली' या 'हरियाली' शब्द प्राचीन हिन्दी गुजराती जैन ग्रंथों में पहेली या 'बुझौवल' के अर्थ में ही प्रयुक्त होता था । गूढ़ अर्थों के कारण इस शैली को 'गूढ़ा' भी कहा जाता है । इस शैली में किसी वस्तु और विषय के नाम को गुप्त रखते हुए उसके गुणों का वर्णन किया जाता है और फिर उस वस्तु का नाम बताने को जाता है । आज भी इस शैली को 'बुझौवल' के नाम से जाना जाता है । अमीर खुसरो की एक पहेली जो हियाली का ही रूपांतर है उदाहरण के लिए यहाँ द्रष्टव्य है -

तरवर से इक तिरिया उतरी, उसने बहुत रिझाया ।
बाप का उसके नाम जो पूछा, आधा नाम बताया ।।
आधा नाम पिता पर प्योरी, बूझो मोरी पहेली ।
अमीर खुसरो यों कहे, अपनो नाम नबोली[192] ।।

हमें लगभग चौदहवीं शती से इस शैली की रचनाओं के साक्ष्य मिलते हैं ।

काव्य और इसके रूप जीवन के विभिन्न रूपों का ही प्रतिबिम्बन है । जीवनानुभव की विविधता काव्य रूपों की विविधता का आधार है । लेकिन इसके साथ मनुष्य का प्रकृति के साथ जो सम्बंध है, वह भी काव्य रूपों में दिखायी पड़ता है । ऋतु वर्णन इसका प्रमाण है । बारहमासा, षडऋतु वर्णन, वसंत, फाग आदि अनेक काव्य रूप मनुष्य और प्रकृति के बीच के रागात्मक सम्बंध को दर्शाता है । संगीत की राग और रागिनियाँ भी प्रकृति में होनेवाले परिवर्तनों और मनुष्य के मनोभावों से उसके अंतरसंबंधों का प्रकटिकरण है[193] ।

बारहमासा और चौमासा आदि काव्यरूपों का प्रयोग अधिकांशतः नायक-नायिकाओं के वियोग का वर्णन करने के लिए हुआ है । इस रूप के आरम्भ का श्रेय जैन कवियों को जाता है । इन्होंने लोकभाषा में इसकी रचना अपने काव्य नायकों के बारहों महीने के खान-पान, आहार-विहार, उत्सव आदि के आयोजन तथा प्रकृति की सुंदरता का वर्णन करने के लिए किया । जैन कवियों ने ऋतु वर्णन और बारहमासा का इतना सफल चित्रण किया कि यह सबसे लोकप्रिय काव्य रूपों में शामिल हो गयी । जैनेत्तर कवियों ने इस रूप का व्यापक प्रयोग किया । यहाँ तक कि बड़े प्रबंध

---

[191] वही ।

[192] वही, पृष्ठ 509 ।

[193] हिन्दी साहित्य की भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी ।

काव्यों में बारहमासा एक अनिवार्य भाग बन गया । इसकी लोकप्रियता के कारण यह प्रबंध काव्यों की एक अनिवार्य विशेषता के रूप में जाना जाने लगा[194] ।

बारहमासा का लोकजीवन के साथ अभिन्न रिश्ता है । व्यापार, युद्ध या जीविका के लिए पुरुषों को प्रायः दूसरे प्रदेशों में जाना पड़ता था । यह प्रवास उनके प्रेम और दाम्पत्य सम्बन्धों के लिए दुःखों का पहाड़ खड़ा कर देता था । अपने प्रिय से दूरी ख़ासकर स्त्रियों के लिए यंत्रणादायक हो जाती थी । उनका हृदय भावावेगों को सम्भालने में पीड़ा का अनुभव करता था । विरह से उपजे इस दुःख और पीड़ा के अहसास को ही कवियों ने एक आवाज़ दी । एक ओर वियोग की यह मनोदशा और दूसरी ओर ऋतुओं का सौंदर्य भाव से उल्लसित होकर आना - इस प्रकार के काव्य की प्रेरणा का मुख्य कारण माना जा सकता है ।

प्रकृति में होने वाला प्रत्येक परिवर्तन, उसकी हर एक हल चल, सहृदय व्यक्तियों के लिए आकर्षण-विकर्शण या आनंद और विषाद का कारण होता है । वसंत की बहार, सावन की फुहार, कोयल और चातक की गुहार, शरद का चंद्रमा, शिशिर की शीतलता, हेमन्त की ओस, भींगी उषा आदि से जहाँ प्रेमियों के संयोग के क्षण अविस्मरणीय हो जाते हैं वही वियोग में ये विरह की आग को और भड़काने का काम करते हैं । बारहमासा जैसे काव्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें प्रत्येक महीने का विशद वर्णन होता है । वर्ष के बारह महीनो का क्रम से चित्रण किया जाता है । यह किसी भी महीने से शुरू हो सकता है लेकिन ज़्यादातर ऐसी रचनाओं में आरम्भ आषाढ़ या कार्तिक मास से होता है ।

आदिकाल के हिन्दी साहित्य में प्रकृति और विरह वर्णन का आरम्भ ‘स्वयंभु’ के ‘पउम चरिउ’ से माना जाता है । इस तरह की दूसरी रचनाएँ भी थी । जैसे पुष्पदंत का महापुराण, जसहर चरिउ। सोमप्रभ सुरि का कुमारपाल प्रतिबोध एवं जिनपद्म सुरि का स्थूलीभद्द फागु आदि । इनमे प्रकृति वर्णन एवं उसके संदर्भ में विरहजन्य अनुभूतियों का चित्रण किया गया है । लेकिन बारहमासा पर आधारित सबसे पहली रचना जिनधर्म सूरि रचित ‘बारह नावउ’ है । यह 13वीं सदी की रचना है । इसमें पद्यों की संख्या पचास है । इन जैन रचनाओं से इतर ‘विद्यापति पदावली’ और ‘पद्मावत’ में इस शैली का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है । किसी ‘अद्दहमाण’ की लिखी रचना ‘संदेश-रासक’ में भी बारहमासा का सफलता पूर्वक इस्तेमाल किया गया है[195] ।

हिन्दी में इस परम्परा की रचनायें उपलब्ध हैं । विद्यापति पदावली और पद्मावत में जहाँ इस शैली का प्रयोग दिखता है वही संत कवियों के ‘निर्गुण बारहमासी’ रचनाओं पर जैन रचनाओं का प्रभाव साफ़ तौर पर देखा जा सकता है । इन संतों द्वारा रचित ‘बारहमासा’ रचनाओं का स्वर उपदेश

---

[194] वही ।

[195] संदेश रासक, सम्पादक हजारी प्रसाद द्विवेदी और विश्वनाथ त्रिपाठी ।

प्रधान है । इनमे श्रृंगार की प्रधानता नहीं है । धरनीदास, गुलाल साहब, रामरूप साहिब और तुलसी साहेब (हाथरस वाले) ने निर्गुण निराकार ब्रह्म एवं आत्मा रूपी विरहिणी को आधार बनाकर बारहमासियों की रचना की है[196] । 'पद्मावत' में नागमति का विरह वर्णन आषाढ़ मास से आरम्भ किया गया है[197] । जैन कवियों को 'बारहमासी' और 'षडऋतु वर्णन' की भाँति 'चौमासों' की भी रचना का श्रेय दिया जाता है । चौमास से यहाँ तात्पर्य वर्षा ऋतु से है । आषाढ़ से आश्विन के बीच पड़ने वाले चौमासे (चातुर्मास) का जैन धर्म में विशेष महत्व है । इस शैली की स्वतंत्र रचनायें उपलब्ध नहीं है । इस शैली का प्रयोग प्रबंध ग्रंथों में किया जाता था ।

चर्चरी या चाँचर नृत्यगीत की एक विधा है, जो 'रास' से मिलती है । यह एक प्राचीन काव्यरूप है । सर्वप्रथम हेमचंद्र के 'छंदोनुशासन' में चर्चरी का लक्षण बताने की चेष्टा की गयी है । इससे इस बात की पुष्टि होती है कि उनके समय में यह काव्य रूप प्रचलित था । लोकभाषा की रचनाओं में श्री जिनदत्त सूरि द्वारा रचित 'चर्चरी' (रचनाकाल सं 1211) तथा सोलणु द्वारा विरचित 'चर्चरिका' (14 वीं शती उत्तरार्ध) विशेष उल्लेखनीय हैं । जायसी के 'पद्मावत' और कबीर के 'बीजक' में कई बार 'चाँचरि' या 'चाँचर' का उल्लेख आया है ।

हिन्दी के मध्यकालीन कवियों के साहित्य में 'चाँचरि' या 'चाँचर' का उल्लेख होली के अवसर पर या बसंत ऋतु में नृत्य के साथ गए जाने वाले एक विशिष्ट लोकगीत के रूप में हुआ है । कबीर तथा अन्य संत कवियों की बानियों में इसे एक विशेष राग मानकर एक अलग प्रकरण में ही सम्मिलित किया गया है । अगला काव्य रूप 'धवल' है ।

'धवल'[198] मूलतः अपभ्रंश भाषा का जैन काव्य रूप है जो लोकगीत और नाट्यात्मक मुक्तक के रूप में भी मिलता है । इसका मतलब यह है कि मुक्तक और प्रबंध दोनो रूपों में यह मिलता है । अपने आरम्भिक रूप में यह चर्चरी, फागु, धमाल और मंगल की ही भाँति मुख्यतः जैन समाज में गाने और समवेत नाट्य प्रदर्शन के उपयोग में आता था । हेमचंद्र ने अपने 'छंदोनुशासन' में 4, 6 और 8 चरण वाले तीन प्रकार के धवल छंदो का उल्लेख किया है ।

'मंगल' मुख्यतः विवाह और जन्मोत्सवों पर गाए जानेवाले गीतों की एक प्राचीन संज्ञा है । हिन्दी, गुजराती और बंगला भाषा में मिलने वाले मंगल शीर्षक काव्य मुख्यतः विवाह काव्य ही है । धवल की भाँति 'मंगल' का भी उल्लेख आचार्य हेमचंद्र ने विशिष्ट छंद के रूप में किया है । इस प्रकार इसकी प्राचीनता असंदिग्ध है । छंद रूप में इसके प्रत्येक चरण की मात्रा संख्या 20 से 22

---

196 हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास, खंड 3 ।

197 पद्मावत, मालिक मुहम्मद जायसी, सम्पादक, रामचंद्र शुक्ल ।

198 वही ।

तक बताई गई है । परंतु इसका प्रचलन लोकगीतों के रूप में ही अधिक रहा । अतः छंद के इस नियम का पालन नहीं किया जाता है ।

प्राचीन समय से ही किसी विशेष संख्या तक स्फुट पद्यों या मुक्तकों का संग्रह करके तदनुसार उस संकलन का नामकरण करने की एक परम्परा रही है । यह संकलन किसी एक कृतिकार की कृतियों का भी हो सकता है और एकाधिक भी । हाल की 'गाथा सप्तशती' आचार्य गोवर्धन की 'आर्या सप्तशती', अमरूक 'अमरूक शतक', बाण कवि का 'चण्डी शतक', आदि इसके उदाहरण हैं । इन संग्रहों के प्रत्येक मुक्तक में कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक ज्ञान या अनुभूति को बड़े ही मार्मिक रूप से समाविष्ट करने की चेष्टा कवियों द्वारा होती रही है । इनमें अन्योक्तियों, लोकोक्तियों, सूक्तियों और तत्वज्ञान की सूक्ष्म बातों की छटा सर्वत्र देखी जा सकती है[199] । भर्तृहरि के तीन शतक (नीति शतक, वैराग्य शतक, श्रृंगार शतक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं । मुक्तकों का संग्रह 'शतक' और 'शप्तशतक' से बढ़कर 'हज़ारा' तक पहुँच गया और सिमटकर 'अष्टक' तक आ गया । इसी प्रकार छंद में भी वैविध्य मिलता है । आर्या, गाथा और दूहा या दोहा इस शैली के प्रचलित काव्य रूप थे । परंतु भक्ति और रीतिकाल में छप्पय, सवैया, कवित्त और पद के संख्यावाची संग्रह भी बड़ी संख्या में मिलते हैं[200] ।

बिल्हण की 'चौर पंचाशिका' की तरह दूसरी पंचाशिकाएँ भी लिखी गयीं । इसमें रीतिकाल के कवि 'वृन्द' द्वारा लिखी गयी 'भावपंचाशिका' का महत्वपूर्ण स्थान है । इसके साथ-साथ चौरासी, बहत्तरी, छप्पनी आदि का भी उल्लेख मिलता है । गोस्वामी विठ्ठलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' इस श्रेणी में महत्वपूर्ण है । चौरासी की संख्या का भारतीय संस्कृति में काफ़ी महत्व रहा है । निश्चित रूप से चौरासी सिद्धों की परम्परा से इसका कोई सम्बंध रहा होगा । यहाँ यह बात भी याद रखने की है कि हिन्दू पुनर्जन्म के आख्यान में 84 लाख योनियों से गुज़रने की बात भी की जाती रही है ।

यही पर कुछ और संख्याओं पर भी विचार कर लेना चाहिए । वैष्णव मंदिरों में आराध्य को चढ़ाए जाने वाले 56 प्रकार के भोगों का विधिवत वर्णन करने के लिए 'छप्पनी' शीर्षक के अन्तर्गत रचनाएँ भी की गयीं । जहाँ तक बावनी नाम से मिलने वाली रचनाओं का प्रश्न है उसका उत्तर मध्यकाल में प्रयोग हुआ । केशव की 'रतनबावनी', भूषण कवि की 'शिवाबावनी', परशुराम की 'बावनलीला', लोढ़ेदास की 'बावनी', बनारसी दास तथा छीदल कवि की 'बावनी' आदि इस शैली की ही रचनाएँ हैं[201] ।

---

[199] वही ।

[200] हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल ।

[201] हिन्दी साहित्य का वृहद इतिहास, खंड 3 ।

इन संख्यावाची शीर्षकों के अंतर्गत आने वाली रचनाओं के विषय में यह ध्यान देना ज़रूरी है कि इनमे संख्याओं की गणना एकदम ठीक-ठीक नहीं मिल पाती है । सप्तशती या शती में आवश्यक नहीं कि सात सौ या सौ मुक्तकों का समावेश होना ही चाहिए । उनकी संख्या दो चार से लेकर पच्चीस तक कम या ज़्यादा हो सकती है । कुछ रचनाओं में जहाँ आरम्भ की ईश्वर वंदना को जोड़ लिया गया होता है तो कुछ में नहीं । जो भी हो संख्यावाची शीर्षकों के विकास की दृष्टि से इन रचनाओं का महत्व बड़ा ही रोचक है ।

यद्यपि इस युग का अधिकांश साहित्य उपदेशप्रधान है, चाहे वह मुक्तक हो या प्रबंध, तथापि कुछ विशिष्ट काव्य रूप ही ऐसे थे जो केवल शिक्षा और उपदेश काव्य की संज्ञा के लिए रूढ़ हो गए थे । इनमें 'बालावबोध', 'टबा', और 'औक्तिक' ये तीनो गद्य रचना के उदाहरण हैं[202] । ये कृतियाँ मुख्यतः प्राकृत और संस्कृत भाषा में रचित सुभाषितों के बोलचाल की भाषा में अनुदित रूप हैं[203] । इन ग्रंथों की भाषा अत्यंत सरल और बोधगम्य है । हिन्दी में मिलने वाले बोध शीर्षक काव्यग्रंथ गद्य में न होकर पद्य में रचे हैं । गोरखनाथ के नाम पर उल्लिखित 'काफ़िर बोध', 'नरवैबोध' और 'गोरखबोध' इसके उदाहरण हैं ।

उपदेशप्रधान काव्य की यह एक विशिष्ट काव्यपद्धति है । ज्ञानोपदेश देने के लिए कवियों ने कटाक्ष, वक्रोक्ति तथा चुभती भाषा शैली का प्रयोग कम से कम शब्दों से अधिक से अधिक प्रदान करने वाली अभिव्यक्ति शैली के माध्यम से किया है । हिन्दी साहित्य के आदिकाल में मिलने वाली इस कोटि की रचनाओं का आरम्भ 'ऊँ नमः सिद्धम्', 'ऊँ गणेशायनमः', 'ऊँ शिवायनमः', 'सिद्धिरस्तु' आदि मंगल सूचक वाक्यों से किया गया है[204] ।

'सज्झाय'- तीर्थंकरों, आचार्यों, मुनियों और सतियों के गुणवर्णन करने वाले, सदगुणों को स्वीकृत करने तथा दुर्गुणों के त्याग की प्रेरणा देने वाले स्तुति एवं शिक्षामूलक जैन काव्य ग्रंथों को 'सज्झाय' या 'सज्जाय' के नाम से जाना जाता था । यह शब्द 'स्वाध्याय' का समानार्थक माना जाना चाहिए । यह आदिकाल का अत्यंत प्रचलित काव्य रूप है । इसकी रचना का मुख्य उद्देश्य उपदेश एवं मुख्य ज्ञातव्य विषयों की शिक्षा ही प्रतीत होती है[205] ।

'संदेश काव्य'[206] उस युग की उपज है जब संचार साधनो का अभाव था । राजा महाराजाओं के संदेश पहुँचने में भी विलम्ब हुआ करता था, सामान्य जन की तो बात ही क्या की जाए । अगर वह

---

[202] वही, पृष्ठ 528 ।

[203] वही ।

[204] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास ।

[205] हिन्दी साहित्य का वृहत इतिहास, तीसरा खंड ।

[206] संदेश रासक, सम्पादक, हजारी प्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन ।

संदेश किसी विरह में जल रहे स्त्री या पुरुष की हुई तो फिर साहित्य ही उसके संदेश को आवाज़ दे सकती है । वास्तविक दुनियाँ में जो कुछ असम्भव है,वह सब साहित्य में सम्भव है । जो कविहृदय है उसे पूरा अधिकार है कि वह अपने संदेश को पहुँचाने के लिए पवन, मेघ, हंस, तोता, भँवरा आदि किसी भी वस्तु या जीव को माध्यम बनाए । उस संदेश में इतनी शक्ति होती है कि वह अपने माध्यम से एकाकार हो जाता है । वह उस माध्यम का संदेश भी बन जाता है । कोई इसे कोई इसे काल्पनिक कहे तो कहे । संदेश वाहक और संदेश देने वाला दोनो इसी दुनिया में जीते हैं ।

संदेश काव्य का दूसरा नाम 'दूत काव्य'[207] भी है । यह कविता की अत्यंत पुरानी शैली है । रामायण में राम का सीता को संदेश पहुँचाने के लिए हनुमान को माध्यम बनाना या महाभारत में युधिष्ठिर के द्वारा कृष्ण के माध्यम से दुर्योधन को संदेश देना । परवर्ती साहित्यकारों ने इन सबको आधार बनाकर ही इस विशिष्ट साहित्यिक शैली की खोज की । इसकी आधारभूमि भी 'बारहमासा' की तरह 'विरह' से उपजी अनुभूति है । 'ढोला मारू रा दूहा' का यह अंश ध्यान देने लायक है क्योंकि कबीर और जायसी के यह भी कुछ हेर फेर के साथ यह बात कही गयी है ।

'पंखी एक संदेशड़ो ढोला ने पहुँचाव ।
जोबन हस्ती भागियो अंकुश पर लइ आवल
पीली पाँषरा पोपटा जइ ढोला ने केह ।
मारूँ मन ऊँचुं कीयुं छाया काउ न देह[208] ।।

इसी प्रकार भँवरा, शुक या तोता और काग को भी सम्बोधित करते हुए संदेश काव्य लिखे गए हैं । इस शैली की सर्वश्रेष्ठ रचना 'संदेश रासक'[209] है । इसमें विजयनगर की एक विरहणी नायिका ने खम्भात निवासी एक पथिक को अपना दूत बनाकर अपने पति को संदेश भेजा है । पथिक तो ख़ैर एक बुद्धिमान प्राणी है पर भावावेश में कई बार निर्जीव वस्तुओं के सहारे भी अपने संदेश को पहुँचाने का प्रयास किया है । संदेश काव्य में लोकगीत का का एक स्वरूप हमेशा से शामिल रहा है । हिन्दी का भ्रमरगीत साहित्य इसी परम्परा की एक कड़ी है ।

जैन कवियों की अपभ्रंश भाषा में रचित कई 'संवाद' शीर्षक रचनाओं का उल्लेख मिलता है । इन पुस्तकों की 'संवाद' योजना मुख्यतः दो रूपों में मिलती है - (१) एक ही छंद में संवाद की योजना, (२) प्रत्ये क पक्ष के लिए स्वतंत्र या एकाधिक स्वतंत्र छंदों की रचना । 'पृथ्वीराज रासो',

---

[207] वही, भूमिका ।

[208] हिन्दी साहित्य का बृहद इतिहास, खंड 3, पृष्ठ 525 ।

[209] उपरोक्त ।

‘रामचरितमानस’ और ‘रामचंद्र चंद्रिका’ में उपर्युक्त दोनो शैलियाँ मिलती हैं । गोरखनाथ का ‘गोरख गणेश संवाद’ और बाद के समय में केशवदास इस शैली के श्रेष्ठ कवि सिद्ध हुए हैं[210] ।

‘गोष्ठी’ शैली की उपलब्ध सबसे पुरानी रचना गोरखनाथ जी की ‘गोरख गणेश गुष्ठि’, ‘गोरख दत्त गोष्ठी’ और ‘महादेव गोरख गुष्ठि’ है । इन रचनाओं की प्रामाणिकता पर तो सवाल खड़े किए जा सकते है पर इससे इतना स्पष्ट है कि यह शैली काफ़ी प्राचीन है । इसके साथ यह भी साफ़ है कि ‘गोष्ठी’ एक स्वतंत्र काव्य विधा के रूप में भी स्वीकृत थी । इस बात की पुष्टि ‘कबीर नानक गोष्ठी’, ‘कबीर गोरख गोष्ठी’, ‘कबीर और निरंजन ज्ञान गुष्ठि’, कबीर और धर्मदास की गोष्ठी’, ‘कबीर और देवदत्त की गोष्ठी’ इन कबीर द्वारा रचित बताए जाने वाले इन ग्रंथो से भी हो जाती है । ये सभी ग्रंथ आकार में छोटे और संवादमूलक हुआ करते हैं ।

‘गीत’ या ‘गीता’ का सीधा मतलब ऐसी रचनाओं से है जो गाई जा सके । गीत शीर्षक संवादमूलक कृतियाँ प्रायः ज्ञान, वैराग्य और प्रेमाभक्ति के विषयों पर आधारित होती हैं । इनमे प्रायः भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ प्रमाणित किया गया है । इस परम्परा में सबसे चर्चित ग्रंथ सूरदास का ‘भ्रमरगीत’ है । नंददास, कृष्णदास, ब्रह्मदेव (गुजराती), चतुर्भुजदास (भ्रमरगीता, उद्धवगीता, रसगीता और रसिकगीता के रचयिता) आदि ने भ्रमरगीतों की रचना की ।

‘आरती’[211] मध्यकालीन मुक्तक काव्य का एक महत्वपूर्ण रूप है । इसकी रचना मंदिरो में देवताओं की पूजा के क्रम में एकल या सामूहिक गाने के लिए किया जाता था । जैन, शैव, वैष्णव, शाक्त सभी के मंदिरो में आरती का गायन होता आज भी देखा जा सकता है । दरअसल यह प्रथा काफ़ी पुरानी मालूम होती है । ‘आरती’ स्तुतिमूलक, नख-शिख-सौंदर्य-वर्णन परक, ताल-लय-बद्ध एक गेय मुक्तक काव्य है[212] । इसका समावेश प्रबंध काव्यों में भी मिलता है । भक्तिकाल में आरती गीतों की रचना प्रचुर मात्रा में हुई । विशेषतः वल्लभाचार्य और कृष्णोपासक मतों के अनुयायीयों के द्वारा बड़ी संख्या में इनकी रचना की गयी है । गोरखनाथ और कबीर के नाम से मिलने वाली आरती संग्रहो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निर्गुण सम्प्रदाय के बीच भी इस शैली की लोकप्रियता थी । गरीबदास, जगजीवन साहब, दत्तजी, बषना जी, संतदास, रामसाहब आदि निर्गुण संतों ने भी आरती की रचना की है । रचना शैली की दृष्टि से ये गीत प्रायः वर्णनात्मक होते हैं । इनमें आराध्य देव के अवतारों, अंग और वेशभूषा, आभूषण और लोगों की रक्षा के लिए किए गए उनके कार्यों का विस्तार से वर्णन किया जाता है[213] ।

---

[210] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, खंड 3, पृष्ठ 525 ।

[211] वही ।

[212] वही ।

[213] वही ।

जैन मंदिरों को 'चैत्य' भी कहा जाता था । इन 'चैत्यों' में जो गीत गाए जाते थे उन्हें 'चैत्यवंदन' भी कहा जाता था । यहीं यह भी कहते चले कि जैन मंदिरों का वर्णन जिस शैली में होती थी उसे 'चैत्यपरिपाटी' कहा जाता था । वही तीर्थों के वर्णन के लिए 'तीर्थमाला' की रचना की जाती थी ।मंदिरों में कुछ अवसरों पर झूले या हिंडोले लगाकर भी उत्सव मनाए जाते थे । इसके आयोजन का श्रेय सबसे ज़्यादा वल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय को दिया जाता है । जैन प्रबंधो में स्फुट रूप झूला गीतों के प्रयोग का प्रमाण मिलता है । झूला काव्य 'झूलना' के नाम से हिन्दी के संत काव्य में भी मिलता है । छंद रूप में झूलना मधुर भावों के लिए उपयुक्त नहीं समझा गया । शायद इसी लिए इसमें ओजपूर्ण काव्य रचे गए ।

सिद्ध काव्य की शैलियाँ

अगर यह कहें कि चर्यागीति की भाषा को लेकर जितने दावे किए गए हैं वे ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को अनदेखा करने के परिणाम है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । जिस समय चर्यागीति लिखा और गाया जा रहा था तब हिंदी, उड़िया, मैथिली, असमिया और बांगला भाषा के बीच अंतर करना मुश्किल था । ये सभी भाषायें इस समय मागधी अपभ्रंश के असर में थीं और इनका आधुनिक रूप सामने नहीं आया था । परंतु वह समय भाषा और शैली में होने वाले बदलावों के लिहाज़ से बहुत महत्वपूर्ण है । सिद्ध काव्य एक लोकप्रिय आंदोलन की उपज प्रतीत होती है । इन संतो ने भक्ति आंदोलन की भूमिका तैय्यार की । चाहे लोकप्रिय भाषा में कविता करना हो, इन्हें गीतों और दोहों की शैली में लिखना हो, हर एक गीत को रागों में बाँधना हो या समाज के हर एक मान्यताओं और रूढ़ियों को चुनौती देना हो भक्ति आंदोलन में ये सारे तत्व सैकडों वर्ष बाद भी दिखायी देते हैं । संत साहित्य तो सिद्धों की ही परम्परा में आते हैं । यही दक्षिण में भी हुआ । इतिहासकार रामशरण शर्मा लिखते हैं -

"नायनार और आलवार, दोनो सम्प्रदायों के संतो ने अपने-अपने सम्प्रदाय का प्रचार केवल चमत्कारों, मिथकों और आख्यानो के माध्यम से ही नहीं, बल्कि नई साहित्यिक शैली की प्रवर्तन के ज़रिए भी किया। उन्होंने काव्य के नए रूपों का, जैसे उन्होंने 'अंतादि' (वह कविता जिसमें अंतिम शब्द का आख़िरी अक्षर अगले शब्द के प्रथम अक्षर के रूप में आता है), इरट्टैमणिमालै (दो छंदो का एक के बाद एक बारी-बारी से प्रयोग करने वाली कविता), मुमाणिक्कोवै (अलग-अलग छंदो के तीन-तीन पदों के दस समूहों की योजनाबद्ध कविता), पल्लांडु (बुरी नज़र का निवारण करने वाले कर्मकांडी ढंग का गीत), तरत्तु (लोरी) आदि का, प्रयोग किया। उन्होंने संगम साहित्य के पुराने छंदो और शैलियों को भी पुनरुज्जीवित किया। सरल ऊर्जस्वल शैली, रूमानी बिम्ब विधान और शब्द माधुर्य से युक्त यह नया साहित्य लोगों की कल्पना पर छा

ग या

[214]।”

आधुनिक युग में तो विभिन्न कारणों से सामाजिक संप्रेषणीयता के साधनों का अपभ्रंश युग की अपेक्षा कई गुना अधिक विकास हुआ है । नागरिक जीवन का फैलाव, महानगरों का बहुभाषी स्वरूप, पर्यटन विकास, शिक्षा का प्रसार, विभिन्न भाषा-भाषी समुदायों के बीच वैवाहिक, व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों का विकास, औद्योगिक क्षेत्रों की स्थापना और उनका बहुभाषिक परिवेश तथा सम्पूर्ण भारतवर्ष में एक केन्द्रीय शासन आदि विविध कारणों के विकास एवं प्रसार के कारण आज भिन्न भाषाओं के बोलने वालों के बीच परस्पर जितना सम्पर्क हो रहा है, आज से एक हजार साल पहले वह सम्भव नहीं था । आज आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के क्षेत्र में जितनी भिन्न भाषाओं एवं किसी भाषा के जितने भिन्न-भिन्न भाषिक उपरूपों तथा बोलियों का प्रयोग होता है, अपभ्रंश युग में इनकी अपेक्षा अधिक संख्या में प्रयोग होता होगा ।

नाट्यशास्त्रकार के समय प्राकृतों के काल में अपभ्रंश एक बोली थी । कालान्तर में इस बोली रूप पर आधारित मानक अपभ्रंश का उत्तरोतर विकास हुआ जिसका स्वरूप स्थिर हो गया । अपनी इस स्थिति के कारण इसका प्रयोग हिमालय से लेकर सिन्धु तक होता था । प्राकृतों के साहित्यिक युग के पश्चात् उकार बहुला अपभ्रंश साहित्यिक रचना का माध्यम बनी । आठवीं-नौवीं शताब्दी तक राजशेखर के समय तक यही अपभ्रंश सम्पर्क भाषा के रूप में पंजाब से गुजरात तक व्यवहत होती थी । इस सम्पर्क भाषा अथवा मानक साहित्यिक अपभ्रंश का विविध क्षेत्रो में प्रयोग होने के कारण इसके उन विविध क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाले भिन्न-भिन्न भाषिक-रूपों से प्रभावित उच्चारण भेद हो गए ।

अपभ्रंश की काल सीमा सन् 1000 तक मानी जाती है । आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का उद्भव काल सन् 1000 से माना जाता है । अपभ्रंश एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं का संक्रमण-काल सन् 800 ईस्वी से लेकर सन् 1150 ईस्वी तक माना जा सकता है । इस संक्रमण काल में बोलचाल के भाषिक रूपों की अनुपलब्धता की स्थिति में इसके भाषिर रूप को जानने का आधार इस काल में रचित वे साहित्यिक अथवा भाषिक ग्रंथ ही हैं ।

जब महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने नेपाल की राज दरबार लाइब्रेरी से सन् 1907 में ताड़पत्रों पर लिखे गए चर्यापद या सिद्ध काव्य (आठवीं से बारहवीं शताब्दी) का सम्पादन किया तथा उनकी पुस्तक “बौद्ध गान ओ दोहा” नाम से कलकत्ता से प्रकाशित हुई, तब से हम मान सकते हैं कि इस युग के साहित्य का विधिवत अध्ययन शुरू हुआ । कलकत्ता विश्वविद्यालय के जर्नल ऑफ द डिपॉर्टमैन्ट लैटर्स (JDL) के 28 वें अंक में सन् 1934 में श्री बागची द्वारा सम्पादित निम्न ग्रंथों का

---

[214] भारतीय सामन्तवाद, पृष्ठ 395।

प्रकाशन हुआ – (1) तिल्लोपाद का दोहा कोष (2) सरहपाद का दोहा (3) कण्हपाद का दोहा (4) सरहपादकीय दोहा संग्रह (5) प्रकीर्ण दोहा संग्रह ।

हिन्दी में सिद्ध साहित्य के अध्ययन की शुरुआत राहुल सांकृत्यायन ने की । उन्होंने 84 सिद्धों में से 81 सिद्धों जैसे सरहपा, कणरीपा, लुईपा, काण्हपा आदि के साहित्य से उदाहरण देकर यह प्रमाणित किया कि सिद्ध साहित्य की परम्परा में हीहिन्दी साहित्य को रखा जा सकता है और यह समय हिन्दी साहित्य के आरम्भिक काल का है ।

चर्यागीति की रचना का काल आठवीं सदी से बारहवीं सदी के बीच का माना जाता है । इस बात के साक्ष्य उपलब्ध हैं कि 'अतिश दीपंकर' 1038 ईसवी में विक्रमशिला से तिब्बत गए थे। इन्होंने कई चर्या लिखे और उनका तिब्बती अनुवाद भी किया था । आठवीं सदी बारहवीं सदी का समय तरह-तरह के बाहरी और आंतरिक हमलों और अव्यवस्था का समय भी है। ख़ासकर मुस्लिम आक्रमणकारियों का जिन्होंने उत्तर भारत में जमकर तबाही मचायी । फिर भी इन चर्या गीतों का लिखा जाना बंद नहीं हुआ। जब बख़्तियार ख़िलजी ने नालंदा को नष्ट कर दिया तब तब ये रचनायें गंगा के मैदानों से ग़ायब हो गयीं और ऊपरी हिमालय तथा तिब्बत में ही बचे रहे ।

इन गीतों की भाषा को लेकर तरह तरह के दावे होते रहे हैं । सबसे पहले यूरोपियन विद्वानो ने इनकी भाषा को 'बौद्ध प्राकृत' और 'अपभ्रंश' कहा । हरप्रसाद शास्त्री और सुनीति कुमार चटर्जी ने इसे पुरानी बांगला कहा । इसी तरह मैथिली, उड़िया और असमियाँ भाषा के विद्वानो ने भी इसे अपनी भाषाओं का पुराना रूप साबित करने की कोशिश की है । सिद्ध साहित्य की भाषा पर दावा करने वाली जितनी भाषाएँ है ये सब मागधी अपभ्रंश से निकली हैं । मागधी अपभ्रंश इस समय पूर्वी भारत के बहुत बड़े हिस्से में बोली जाति थी ।

अलबरूनी के अनुसार इस समय दो ही भाषाएँ बोली जा रही थी, पहली ब्राह्मणों की भाषा संस्कृत और दूसरी सामान्य लोगों की भाषा । आमिर खुसरो की रचना नूह सिपहर में भारतीय लोगों की जिन भाषाओं का ज़िक्र हैं वे क्षेत्रीय आधार पर विभाजित हैं, जैसे- सिंधी, लाहोरी, कशमीरी, डूगर (डोगरी), धुर समुन्दर (कन्नड़), तिलंग, गुजरात, माबर (तमिल), गौड़, बंगाल, अवध और दिल्ली । इस सूची में मैथिली जैसी भाषायें नहीं हैं फिर भी उस समय की भाषाओं का इससे कुछ अंदाज़ा मिला जाता है । चर्या गीतों में जहाँ भी 'बंग' और 'बंगाली' शब्द का प्रयोग मिलता है वह पूरी तरह से 'जाति' और 'क्षेत्र' का सूचक है न कि किसी भाषा का । जैसाकि बंगाली विद्वान मानते आ रहे हैं । भुसुकपा अपनी चर्या में इसे कुछ इस तरह लिखते हैं;

बाजअ णाबअ[215] पाड़ी पाउआ-खाले बाहिउ ।

---

215 राज नाब, हरप्रसाद शास्त्री ।

अदअ बँगाले[216] देश लुड़िउ ।।
आजि भुसुकु[217] बंगाली भइली ।
निअ घरिणी चण्डाली लेली ।।
डहि जो[218] पाँच पाटण इम्दि बिसआ णठा।
ण जाणमि[219] चिअ मोर कही गइ पइठा ।।
सोण तरुआ[220] मोर किम्पि ण ठाकिउ ।
णिअ[221] परिबारे महा नेहे[222] थाकिउ ।।
चउकोडि भण्डार मोर लइआ सेस ।
जिबन्ते मइलऐ नाहि बिषेशा ।।०

इन चर्या गीतों की टीका मुनिदत्त ने तैयार की थी और इसकी भाषा को संध्या भाषा कहा । संध्या भाषा का मतलब दोहरे अर्थों से युक्त भाषा के रूप में लिया गया । इस आधार पर संध्या भाषा के तीन उपयो ग हो सकते हैं । 1. इनका वह अर्थ जो सामान्य लोग निकलते हैं। 2. इसके कामोद्दीपक अर्थ जो विशिष्ट लोग निकाल सकते हैं । और 3. इसका रहस्यवादी अर्थ जो गुरु कि सहायता से ही प्राप्त किया जा सकता है ।

सिद्ध काव्य को समझने में सबसे बड़ी बाधा इन्हें संधा भाषा कहने से पैदा हुई है । टीकाकार मुनिदत्त ने एक बार इसे संधा भाषा कह दिया तो हम भी इसे वही कहते रहें, यह कोई वैज्ञानिक तरीक़ा नहीं है । सरह ने अपने गीतों में 'गहण गुहिर भास' की बात की तो इसका हवाला देते हुए सिद्ध काव्य को रहस्यमयी संधा भाषा में रचे जाने का पर्याप्त आधार मान लिया गया[223]। उससे पहले धर्मवीर भारती लिखते हैं,

"जहाँ तक बौद्ध तंत्रों की पांडुलिपियों, उनके लिपिकारों, यहाँ तक कि उनके रचयिताओं का सम्बंध है, यह सर्वविदित है कि भाषा और व्याकरण के कड़े नियमों के प्रति उन्होंने बड़ा ही विद्रोही रूख अपनाया था और वे उन लोगों की हँसी उड़ाते थे जो संस्कृत के नियमों का कठोरता से पालन

---

216 बंगाअल, शाहिदुल्लाह ।

217 भुसु, नीलरतन सेन ।

218 डहिअ, बागची और शाहिदुल्लाह ।

219 जानमि, शास्त्री और शाहिदुल्लाह ।

220 सोण तोरुअ, शास्त्री । सोण त रूअ, बागची । सोण रूअ,शाहिदुल्लाह ।

221 निअ, शास्त्री, शाहिदुल्लाह ।

222 महासुहे, शास्त्री, बागची और शाहिदुल्लाह ।

223 सिद्ध काव्य, धर्मवीर भारती, पृष्ठ २६८ ।

करते थे। उन्होंने स्पष्ट घोषित किया था कि अपशब्द, वृत्तिभंग, वर्णस्वर लोपादी ह्रस्व का दीर्घ करना और दीर्घ का ह्रस्व करना आदि तंत्र के उपदेशकों के लिए वैध है[224]।"

यह बात सिर्फ़ सिद्ध कवियों के संदर्भ में ही लागू नहीं होता, जैन कवि स्वयंभू अपना परिचय देते हुए जो लिखते हैं उसे थोड़ा सुधार कर राहुल सांकृत्यायन ने इस तरह उद्धृत किया है ।

बुध जन स्वयभु तोंहि वीनवई । मोंहि सरिसउ अन्य नाहि कुकवि ।।
व्याकरण किछु ना जानियउ । ना वृत्ति-सूत्र अक्खानियऊ ।।
ना सुनेउँ पाँच महान काव्य । ना भरत न लक्षण छन्द सर्व ।।
ना बूझेउँ पिंगल-प्रस्तारा । ना भामह - दडि - अलकारा ।।

बात संधा भाषा तक ही नहीं रुकी । सिद्ध काव्य जब तिब्बती में अनुवादित होकर तिब्बत के मठों में रहा तो इन चर्या गीतों के अर्थ से अनजान वहाँ के साधक इनका मंत्रों की तरह जाप करने लगे । बीसवीं सदी की शुरुआत में जब भारत से विद्वान तिब्बत गए तो वहाँ उन्होंने पाया कि इन पवित्र ताल पत्रों को धो कर पिया जाता है । जिसके कारण बहुत से ताल पत्र नष्ट भी हो गए थे । जो साहित्य भारतीय उपमहाद्वीप में प्रेम और जीवन की ऊर्जा से भरे गीत के रूप में था वही दूसरे देश में जाकर हज़ार वर्षों के बाद रहस्यमयी मंत्र में बदल चुका था । दुर्भाग्य से हमने अपना खोया साहित्य तो ढूँढ निकाला है पर उसे अबतक ठीक से पहचान नहीं पा रहे हैं । इसका एक उदाहरण देखिए,

गंगा जउना[225] माझें रे बहइ नाइ ।
तहिं चूडिली मातंगि पोइआ लीले पार करेइ ।।
बाह तू डोम्बि बाह लो डोम्बि बाठत भइल उछारा ।
सदगुरु पाअ पलुं[226] जाइब पुनु जिनउरा ।।
पारी[227] केडुआल पड़न्ते मांगे पिटत[228] काछी बान्धी ।
गअण दुखोले[229] सिंचहुं पानी न पइसइ सान्धी ।।

---

224 वही।

225 जउणा, नीलरतन सेन ।

226 पएं, नीलरतन सेन ।

227 पाँच, नीलरतन सेन ।

228 पिठत, शास्त्री, बागची ।

229 गअणदुखोले, शास्त्री और बागची इसे एक ही शब्द मानते हैं ।

चन्द[230] सुज्ज दुइ चक मिठी[231] संहार पुलिंदा ।
बाम दाहिन दुइ भाग न रेबउ[232] बाहतु छंदा ।।
कबडी न लेइ बोडी न लेइ सुघड़[233] पाड़ करेइ ।
जो रथे चलिला बाहबा नि जाइ कूले कूल बूड़इ[234] ।।

इसकी व्याख्या धर्मवीर भारती जी ने इस तरह की है -

"इस चर्या का अर्थ अपेक्षाकृत स्पष्ट है। गंगा तथा यमुना, ललना तथा रसना की वाचक है। वाम-दक्षिण और सूर्य-चंद्र से भी इन्हीं नाड़ियों का बोध होता है । मातंगी है डोम्बी नैरात्मा जो प्रमत्त है, यह नौका जो सहज पथ से बह रही है सहजयान है । यह भवसागर से लोगों को पार करा देती है पाँच डाँडों का अर्थ यहाँ चतुर्विधशून्य-सम्बंधी पंचक्रमोंपदेश है । इस प्रकार ललना और रसना को परित्याग कर मध्यममार्ग अवधूति को ग्रहण करना ही हठयोग साधना में सहज पद्धति या मध्यम मार्ग है जिससे महामुद्रा सिद्ध होती है।.....।[235]"

इस तरह की व्याख्याएँ कभी भी सिद्ध काव्य को समझने में सहायक नहीं हो सकतीं । इसका कारण यह है कि जब तक आप इसे कविता की तरह पढ़ने की कोशिश नहीं करेंगे तब तक ग़लत व्याख्याओं के असर में आते ही रहेंगे और अर्थ का अनर्थ करेंगे । इस गीत में आए दूसरे शब्द पर ध्यान दें। अब तक 'जउना' को छूटते ही यमुना बना दिया जाता है एक बार भी किसी व्याख्याकार ने इस बात की कोशिश नहीं की कि 'जउना' का भी कोई मतलब हो सकता है । मिथिलांचल में अभी भी 'जउना' शब्द का प्रयोग होता है और अगर इसकाहिन्दी में अर्थ करें तो होगा 'तरह' । पूरा अर्थ होगा **'गंगा की तरह बहती जा रही हो.....जो रथ पर चलने वाला बहना नहीं जानता वह पूरे का पूरे डूब जाता है'** ।

अब तक हुई इस तरह की व्याख्याओं के बारे में जब हम विचार करते हैं तो यह समझ में आता है कि इसकी शुरुआत कहाँ से हुई । इसकी जड़ सिद्ध काव्य की लिपि और भाषा से सम्बंधित अब तक हुई व्याख्याओं में है । हुआ यह है कि सबसे पहले तो बांगला के 'विद्वानो' ने इसे पुरानी बांगला घोषित कर दिया फिर इसके बाद वे इसकी व्याख्या में जुट गए । जब उन्हें बांगला में सिद्ध काव्य का कोई मतलब समझ नहीं आया तो उन्होंने मुनिदत्त द्वारा की गयी संस्कृत टीका को आधार

---

230 चांद, शाहिदुल्लाह ।

231 सिठि, नीलरतन सेन ।

232 चेबइ, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

233 सूच्चढ़े, नीलरतन सेन ।

234 बुलइ, बागची, शाहिदुल्लाह ।

235 सिद्ध साहित्य, पृष्ठ।

बनते हुए इसे 'संधा भाषा' घोषित कर दिया और इसकी रहस्यमयी व्याख्याएँ करने लगे । यह बड़ी अजीब बात है कि जो कवि चर्यागीति में संकलित हैं, उनपर बात करते समय दोहाकोष में संकलित उन्हीं की रचनाओं पर कोई बात नहीं की जाती । सिद्ध काव्य को संधा भाषा कह कर कमल-कुलिश का जाप करने वालों को दोहाकोष भी पढ़ना चाहिए जिसमें उन्हीं सिद्ध सरहपाद ने ये भी लिखा है -

पंडिअ सअल सत्य बक्खाणइ ।
देहहि बुद्ध बसन्त ण जाणइ ।।
गमणागमण न तेन विखण्डिअ ।
तो णिलज्ज भणहि हउँ पण्डिअ ।।
जीवन्तह्य जो नउ जरइ,
सो अजरामर होइ ।
गुरु उवएसे विमल मइ,
सो पर धणणा कोइ ।

सौभाग्य सेहिन्दी में राहुल सांकृत्यायन थे जिन्होंने पहली बार इस काव्य को उसके सही भाषिक और सामाजिक परिवेश में रखकर देखने की कोशिश की । उन्होंने 84 सिद्धों के बारे में पूरी जानकारी जमा की और बताया कि ये सिद्ध किस जाति, क्षेत्र, लिंग, भाषा आदि से सम्बंधित थे । बिना यह जाने इनके काव्य को समझने का दावा बेतुका है । राहुल सांकृत्यायन ने यह साबित किया सिद्ध काव्य मैथिली, मगही और भोजपुरी का ही पुराना रूप है । बंगाली व्याख्याकारों ने इसे नहीं माना और अब तक सिद्ध काव्य की रहस्यमयी व्याख्या करते आ रहे हैं ।

अपने शोध के दौरान मैंने नीलरतन सेन द्वारा सम्पादित चर्यागीतिकोश को आधार ग्रंथ के रूप में इस्तेमाल किया है । इसका कारण यह है कि इसमें मूल चर्यागीतिकोश की पांडुलिपि दी गयी है । 1977 में जब नीलरतन से चर्यागीतिकोश का सम्पादन कर रहे थे तब भी उन्होंने राहुल सांकृत्यायन की स्थापनाओं पर कोई ध्यान नहीं दिया । इसके उलट चर्यागीतिकोश की भूमिका में यह कहते हुए उनकी हँसी उड़ायी है कि सिद्ध काव्य पर हिन्दी जैसी भाषा भी दावे कर रही है । अब देखिए कि चर्यागीतिकोश के साथ नीलरतन सेन ने क्या किया है ।

नीलरतन सेन ने चर्यागीतिकोश को 'correct' (सही) करने के चक्कर में उसका बांगलाकरण कर दिया है । उन्हें जो शब्द समझ में नही आए उसका बांगला से मिलता जुलता शब्द उन्होंने सामने कर दिया । पूरे सम्पादन में उनका संदर्भ बिंदु बंगला भाषा रही है । जिस भाषा का जन्म होना तो दूर उस समय उसका नामों निशान भी मौजूद नहीं था उसे सिद्ध काव्य का संदर्भ बिंदु बना डाला । चर्यागीतिकोश की भाषा सबसे ज़्यादा आधुनिक बिहार की भाषाओं से मिलती है । मैथिली से सबसे ज़्यादा यहाँ तक कि मूल चर्यागीतिकोश पाण्डुलिपि की लिपि मिथिलाक्षर है ।

नीलरतन सेन ने अपने द्वारा सम्पादित चर्यागीतिकोश के शुरुआत में एक चार्ट दिया है जिसमें चर्यागीतिकोश के अक्षरों का बांग्ला, मैथिली, असमी, हिंदी, उड़िया और नेवारी से मिलान किया है । मेरे लिए यह चार्ट काफ़ी उलझानेवाला था । इसमें नीलरतन सेन २० वीं सदी की खड़ी बोली नागरी लिपि के टाइप के अक्षरों का १३ वीं सदी के चर्यागीतिकोश की लिपि से मिलान किया है । अगर वो हाथ से लिखेहिन्दी के अक्षरों को ही तुलना के लिए चुनते तो ऐसी ग़लती नहीं करते । काश वे १३ वीं सदी काहिन्दी साहित्य जिस लिपि में लिखा जा रहा था उसके साथ चर्यागीतिकोश का मिलान करते । हाथ से लिखे अक्षरों का टाइप किए अक्षरों से तुलना हास्यास्पद है । चर्यागीतिकोश की इस तरह की टीकाओं ने इसे समझने में सहायता करने की जगह इसे अबूझ बना दिया ।

हिंदी सिद्ध काव्य की परम्परा में है । सिद्ध काव्य का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव साफ़ देखा जा सकता है । ख़ासकर संत साहित्य के ऊपर । इसपर काफ़ी कुछ लिखा गया है । हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं -

“ध्यान देने की बात यह है कि इन पुस्तकों में जिन काव्य रूपों का परिचय मिलता है, वह बंगला में अब लुप्त हो चुके हैं; परंतुहिन्दी में अभी तक जी रहे हैं । दोहों की प्रथा बंगाल के साहित्य में कभी रही ही नहीं और सही बात तो यह है कि बंगला भाषा की ऐसी उच्चारण गत विशिष्टता है कि दोहा छंद उसमें जम ही नहीं पाता । मैं यह तो नहीं कहता कि बंगाल का कोई कुशल कवि चाहे तो भी बंगला को दोहा छंदो में ढाल ही नहीं सकता; परंतु इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि बंगला भाषा की प्रकृति दोहा के अनुकूल नहीं है ।

“बौद्ध गानो में भी जिस श्रेणी की पदरचना है, वह आगे चलकर कबीर आदि संतों की रचनाओं में अधिक मुखर हुई । यह तो नहीं कहा जा सकता की बंगला भाषा में उसका चिन्ह ही नहीं मिलता; परंतु वह अधिक लोकप्रिय बंगाल के बाहर ही हुई । बंगला की वैष्णवपदावली में उसका एक रूप प्राप्त अवश्य होता है । साधारण बंगला से इसका फ़र्क़ करने के लिए इसे ‘ब्रजबुलि’ कहा जाता है । शायद यह इस बात का प्रमाण है कि वैष्णव कवियों ने यह समझ लिया था कि इस प्रकार की पद रचना बंगला भाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं । जो हो इसमें कोई संदेह नहीं कि दोहा और पदों की परम्परा अविच्छिन्न रूप सेहिन्दी साहित्य में चली आयी है और काव्य रूपों और विचार प्रवाह की दृष्टि से इन गानो और दोहों का सम्बंध परवर्तीहिन्दी साहित्य से ही अधिक है । भाषा की दृष्टि से वह जो कुछ भी क्यों न हो[236]।”

अगर सिद्ध काव्य की शैली की सबसे बड़ी विशेषता पूछी जाए तो उसका एकमात्र उत्तर है ‘दोहा’ शैली । यह अपभ्रंश भाषा का सर्वाधिक लोकप्रिय काव्य रूप है । जिस प्रकार प्राकृत का एक अपर नाम ‘गाहाबंध’ है उसी तरह अपभ्रंश का एक नाम ‘दूहाबंध’ भी है । उस समय दूहा और सोरठा में कोई अंतर नहीं था । दोहा में 13+11 ,13+11 की यति मिलाकर कुल 48 मात्राएँ होती हैं । पर

---

[236] हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग ३, पृष्ठ ५५१ ।

कहीं कहीं 46 या 47 मात्राएँ भी होती हैं[237] । दूहा का एक नाम 'दुहड़उ' भी मिलता है । 'दोहरा' इसके नाम का परवर्ती रूप सर्वज्ञात है । दोहा अर्धसम छंद है । आदिकाल में दोहा और सोरठा में नामभेद नहीं था[238]। दोहा केवल बौद्ध सिद्धों का ही प्रिय मुक्तक नहीं था, बल्कि जैन कवियों और नाथ सिद्धों में भी उनका प्रचलन था । सरहपा और कन्हपा के दोहाकोष इस तथ्य के प्रमाण हैं । सिद्ध संतों और गुरु गोरखनाथ ने भी दोहों की रचना की थी । भक्ति और रीतिक़ालीन साहित्य में दोहा, सवैया, कवित्त, घनाक्षरी और चौपाई के साथ एक महत्वपूर्ण छंद बना रहा ।[239] हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं -

"चौपाई-दोहे का सबसे पुराना प्रयोग शायद यही है । जो कुछ पुराना साहित्य उपलब्ध है उससे लगता है कि पूर्वी प्रदेश के बौद्ध सिद्दों ने ही इस शैली में लिखना शुरू किया था । .... गोरखनाथ की बतायी जानेवाली वाणियों में भी इस पद्धति को कथंचित खोज लिया जा सकता है और कबीरदास ने तो निश्चित रूप से इस पद्धति का व्यवहार किया था[240]।"

मैथिली की पुरानी लिपि जिसे मिथिलाक्षर कहा जाता था, वही चर्यागीतिकोश की लिपि है। विकीपीडिया पर के एल बरुआ के हवाले से कहा गया है कि दोहों की भाषा मिश्रित है । यह मिश्रण मैथिली और उसकी एक शाखा कामरूपी के मेल को कहा गया है । इस तर्क को असमी भाषा के विद्वान भी स्वीकार करते हैं । मज़ेदार बात यह है कि इस समय बांग्ला भाषा कहीं मौजूद ही नहीं थी । जब पढ़ने वालों ने इस लिपि को छूटते ही मैथिली कहा था, तब इन बंगाली विद्वानों ने इस बात पर ध्यान क्यूँ नहीं दिया ? उदाहरण के लिए काण्हपा के इस गीत को देखिए । आज के भोजपुरी भाषी किसी व्यक्ति के लिए इस भाषा को समझना कोई मुश्किल नहीं है । बोलबा जाअ, समाअ, कइसा, जइसा आदि शब्द आज भी थोड़े बदलाव के साथ बोले जाते हैं ।

जो मण-गोअर[241] आल-जाल[242] ।
आगम-पोथी इष्टामाला ।।
भण कइसै सहज बोल बा जाअ[243] ।
काअ-बाक-चिअ जसु ण समाअ ।।

---

[237] वही ।

[238] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, खंड 3, पृष्ठ 534 ।

[239] वही ।

[240] हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग ३, पृष्ठ ६५० ।

[241] गोएर, नीलरतन सेन ।

[242] आला-जाला, शाहिदुल्लाह और सेन ।

[243] बोलबा जाइ, शाहिदुल्लाह ।

आले गुरु उएसइ सीस ।
बक्पथातीत काहिब कीस ।।
जे तइ[244] बोलि ते तबि टाल ।
गुरु बोबा[245] से सीस काल ।।
भणइ काह्न जिण रअण बि कइसा ।
कालै बोबा[246] सम्बोहिअ जइसा ।।

उलटबाँसी

सिद्ध काव्य के रूप पर आगे विचार किया जाए तो इनकी अगली बड़ी विशेषता है उलटबाँसी का प्रयोग । उलटबाँसी[247] - वैसी कविता जिसके अर्थ आसानी से समझ में न आये उसे उलटबाँसी या कूटवाणी कहा जाता है । ऐसा समझा जाता है कि अपने प्रतिद्वंद्वी पर ज्ञान की धाक ज़माने के लिए इस काव्य रूप का प्रयोग किया जाता था । इस तरह की कविता में ऐसे रूपकों एवं पौराणिक कथाओं और दृष्टांतों का इस्तेमाल किया जाता था जिससे रचना 'अबूझ' और असाधारण प्रतीत हो । इस शैली का सर्वप्रथम प्रयोग बौद्धसिद्धों ने अपने चर्या गीतों में किया है । यह शैली सिर्फ़ सिद्धों तक सीमित नहीं रही । इसका विकास गोरखबानी और संत भक्त कवियों ख़ास कर कबीर के यहाँ दिखाई पड़ता है । यहाँ इसपर ठहरकर विचार करना ज़रूरी हो जाता है । सिद्ध काव्य में उलटबाँसी शैली का सबसे ज़्यादा प्रयोग हुआ है । कुछ उदाहरण देखिए -

टालत मोर घर नाहि पड़बेषी ।
हाड़ीत भात नाहि निति आबेशी ।।
बेग[248] सम्सार बढ़िल[249] जाअ ।
दुहिल दुधु कि बेण्टे शामाअ[250] ।।
बलद बिआएल[251] गबिआ बाझे ।

---

244 जेत इ, हरप्रसाद शास्त्री ।

245 बोध, नीलरतन सेन ।

246 काल बोबे, शाहिदुल्लाह ।

247 इसपर विस्तृत चर्चा सिद्ध काव्य के प्रसंग में की जाएगी ।

248 बेंग, प्रबोध चन्द्र बागची ।

249 चढिल, शाहिदुल्लाह ।

250 सामा, नीलरतन सेन ।

251 बिआअल, प्रबोध चन्द्र बागची ।

पिटा[252] दुहिए ए तिना साझे[253] ।
जो सो बुधि सौध निबुधी[254] ।
जो सो चौर सौ दुशाधी ।।
निते निते शिआला शिहे शम जुझअ[255] ।
टेण्टणपाएर गीत बिचिरलै बुझअ ।।

अब तक उलटबाँसी की शैली को 'संधा भाषा' के आवरण में लपेट कर पेश किया जाता रहा है । उलटबाँसी के प्रयोग कर्ता कवियों के बारे में यह कहा जाता रहा है कि ये अनपढ़ समुदाय पर ज्ञान का धौंस ज़माने के लिए इस शैली प्रयोग करते है । क्योंकि इस शैली में बड़े-बड़े दावे किए जाते हैं जो सम्भव नहीं दिखता बल्कि एक नज़र में ऊटपटाँग लगता है । पर जैसा कि पिछले अध्याय में यह सामने आया कि इस शैली का प्रयोग कवियों द्वारा न सिर्फ़ जानबूझकर किया जा रहा था बल्कि यह शैली लोकप्रिय भी था । यही कारण है कि इसे बड़े पैमाने पर अपनाया गया । बक़ौल हजारी प्रसाद द्विवेदी 'इनका संग्रह किया जाए तो एक मोटा ग्रंथ तैय्यार हो जाएगा[256]।'

"एक बात लक्ष्य करने की यह है किहिन्दी साहित्य के आदि प्रवर्तक तीन महाकवियों - चंद, कबीर और सूरदास - में से सबके सब एक विचित्र प्रकार की पद रचना करते रहे । इन्हें दुष्टकूट उलटबाँसी या विपर्यय कहते हैं । सूरदास के ग्रंथों में इन्हें दुष्टकूट और कबीर की वाणी में इन्हें उलटबाँसी कहा है चंद के रासो में भी ऐसे दुष्टकूट मिल जाया करते हैं । जिन उलटबाँसियों के लिए कबीरदास बहुत बदनाम किए गए हैं और साहित्यिक 'महारथियों' की आक्षेप-बाणों के शिकार होते रहे हैं, उनमें कितनी उनकी अपनी रचना है और कितनी पूर्वतर साधकों से गृहीत और कितनी भक्तों द्वारा उनके मत्थे आरोपित है, यह निश्चय करना मुश्किल है । लेकिन इस बात में कोई संदेह नहीं है कि इस प्रकार उलटबाँसियाँ उस युग में नाथपंथी योगियों और सहजयानियों में ख़ूब प्रचलित थीं । बंगाल में मुसलमान नामधारी योगियों की लिखी हुई पोथियों में ऐसी उलटबाँसियों की भरमार हुआ करती थी [257]।"

कबीर ने इस शैली का ज़बरदस्त इस्तेमाल किया है । आख़िर उन्हीं कवियों ने उलटबाँसी की शैली का प्रयोग क्यूँ किया है जिन्हें सामाजिक, धार्मिक आदि हर तरह की संरचना से शिकायत थी ?

---

[252] पिह्ढ़ा, शाहिदुल्लाह ।

[253] साझ्ये, नीलरतन सेन ।

[254] बुधी, नीलरतन सेन ।

[255] जूझइ, शाहिदुल्लाह ।

[256] हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, खंड पाँच, पृष्ठ २५४ ।

[257] वही।

इसका जवाब सीधा है । ये कवि हर उस संरचना को बदल देना चाहते थे जो शोषण का कारण थी या जहाँ उनकी कोई जगह नहीं थी या जिनसे उन्हें शिकायत थी । उपरोक्त गीत में टेण्टणपा यही कर रहे है । यही कबीर ने किया था। जब किसी सामान्य व्यक्ति को यह कहा जाए कि 'बुद्धिमान' व्यक्ति भी मूर्ख हो सकता है और जिसे हम 'चोर' समझते हैं वह 'ईमानदार' हो सकता है तो यह समाज में बने 'सही' और 'ग़लत' की धारणा को चुनौती देने जैसा है । अगर पिछले अध्याय के इस प्रसंग को दुहराएँ तो कह सकते हैं कि यही से हर तरह की संस्था परिवार, विवाह, समाज, राज्य, धर्म, जाति, लिंग, रंग, भाषा, क्षेत्र आदि सारे अपनी महत्ता खो बैठते हैं । अपनी रचनाओं के माध्यम से सिद्धों ने यही किया । उन्होंने हर संस्थाओं पर सवाल खड़े किए और समाज में उथल-पुथल ला दिया । यहीं सिद्धों की लोकप्रियता और बदनामी का कारण है ।

हाअउ निरासी खमण भतारे[258] ।
मोहोर बिगोया कहण न जाइ ।।
फेटालिउ[259] गो माए अंतउड़ी चाहि ।
जा एथु चाहाम[260] सो एथु नाहि ।।
पहिला बिआण मोर बासन पूड़ा ।
नाड़ी बिआरन्ते सेब[261] बा पूड़ा ।।
जा ण-जौबण मोर भइ लेसी पूरा ।
मूल नखलि[262] बाप सम्घारा ।।
भणथि कुक्कुरिपा ए भब[263] थिरा ।
जो एथु बुझए[264] सो एथु बीरा ।।

जब कुक्कुरिपा पति-पत्नी, पिता-पुत्र आदि के बीच के सम्बन्धों के सहारे उलटबाँसी कहते हैं तो ये सारे संबंध सवाल के घेरे में आ जाते हैं । जब हम किसी सम्बंध की प्रकृति पर विचार करते है तब हम उसके असर से मकते होने लगते हैं । सबसे बढ़कर यह कि इन संबंधों की मर्यादा का आवरण हटने लगता है । कबीर ने इस तरह सारी शक्ति संरचना को सवाल के घेरे में खरा कर दिया

---

258 खमण भतारी, शाहिदुल्लाह ।

259 फिटालेसि, हरप्रसाद शास्त्री ।

260 बाहाम, हरप्रसाद शास्त्री ।

261 सेअ, शाहिदुल्लाह ।

262 माअ निखलि, शाहिदुल्लाह ।

263 कुक्कुरीपा ए भब, शास्त्री, बागची ।

264 बुझइ, बागची और शाहिदुल्लाह ।

था । चाहे तो आगे भी उनकी शैली को हम संधा भाषा कहकर कुंडलिनी जगाते रहने का नाटक करते रहें लेकिन सच्चाई यही है कि कोई रहस्य नहीं है ।

सिद्धों के काव्य की एक और बड़ी विशेषता है उसका विभिन्न शास्त्रीय रागों में रचा होना । यह अलग बात है कि आज जिन्हें हम शास्त्रीय राग कहते हैं वह उन दिनो सामान्य लोगों के बीच गाए जाने वाले लोकप्रिय राग रहे हों । लगभग सभी चर्यापद किसी न किसी राग में गाए जाने के लिए हैं । इनमें कुल अठारह रागों का ज़िक्र मिलता है । ये राग हैं- अरु, कामोद, गउड़ा, गुंजरी, गुर्ज्जरी, देशाख, देवक्री, धनसी, पटमंजरी, बंगाली-भैरवी, मल्लारी, मालशी (श्री), मालशी गबूड़ा, रामक्री, बलाड्डि, बराडी, शबरी ।

निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते है कि सिद्ध काव्य की शैली और इसका रूप विधान आदिक़ालीनहिन्दी साहित्य में प्रयोग की जाने वाली विभिन्न शैलियों से मेल खाती है। सिद्ध काव्य की भाषा जहाँ मैथिली, मगही, भोजपुरी और अवधी के क़रीब है वही इसकी शैली भी मिलती जुलती है। संत काव्य किसी तरह सिद्ध काव्य का ही विकास है । इस पर काफ़ी काम हुआ है । हजारी प्रसाद द्विवेदी तो यहाँ तक कहते हैं कि जब सिद्धों से कबीर की तुलना की तो पता चला कि उनपर सबसे ज़्यादा असर तो सिद्धों का है । एक बात तो साफ़ है कि हिन्दी साहित्य इसी परम्परा से जुड़ी है । द्विवेदी जी लिखते हैं -

"मैं केवल इस बात पर जोर देता रहा हूँ कि जहाँ तक उनकी उपस्थापन पद्धति, विषय, भाव, भाषा, अलंकार, छन्द, पद आदि का सम्बंध है, ये संत सौ फ़ीसदी भारतीय परम्परा में पड़ते हैं । उनके पारिभाषिक शब्द, उनकी रुढ़ि-विरोधिता, उनकी खण्डनात्मक वृत्ति और उनकी अक्खड़ता आदि उनके पूर्ववर्ती साधकों की देन है । परन्तु उनमें की आत्मा उनकी अपनी है । उसमें भक्ति का रस है और वेदान्त का ज्ञान है[265] ।"

उलटबाँसी की शैली से जुड़ी हुई धारणाओं पर पुनर्विचार की ज़रूरत है । संध्या भाषा के नाम पर इन रचनाओं को अबूझ बनाए रखना ठीक नहीं है । ये रचनायें अपने समय में काफ़ी लोकप्रिय थीं । यही कारण हैं कि ये रचनाएँ तमाम हमलों के बाद दूसरे देश में जाकर भी सुरक्षित रह गयी। इन रचनाओं की भाषा को लेकर अब तक हुए विवाद निर्थक रहे हैं । ये कवि जिस समाज से आए थे और जिस जगह रहते थे स्वाभाविक है वे वहाँ की भाषा में लिखते बोलते रहे हों । आदिकाल के साहित्यिक शैलियों की चर्चा ज़रूरी है, क्योंकि उसकी सहायता से सिद्ध काव्य को समझने में मदद मिल सकती है ।

---

[265]हिंदी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ ७० ।

उपसंहार

सिद्ध संत बौद्ध परम्परा की वज्रयान शाखा से सम्बंधित होते हुए भी बौद्ध नहीं थे । वे योग और तांत्रिक क्रियाकलापों को भी अपनी साधना का माध्यम बनाते थे, पर वे 'तांत्रिक' नहीं थे । वे शैव पाँचरात्र शाखा के कापालिकों जैसा जीवन जीते थे, पर वे शैव नहीं थे । कई सिद्ध संत नाथों की परम्परा में भी आते हैं, पर वे नाथ भी नहीं थे । सदगुरु की महिमा गाते हुए भी वे वैष्णव भक्त नहीं थे । वे न तो किसी एक जाति से आते थे, न किसी एक क्षेत्र से, न किसी एक लिंग से । वे न तो जाति को मानते थे, न धर्म को, न ईश्वर को, न विवाह और न किसी पारिवारिक रिश्ते को ही । वे एक साधारण मनुष्य जैसे थे जो प्रेम करता है, अपनी जीविका के लिए कर्म करता है, खाता पीता है, नाचता गाता है, सहज सामान्य जीवन जीता है और अपने शरीर के रास्ते ही मुक्ति की साधना करता है ।

सिद्ध काव्य से गुज़रते हुए बार-बार यह लगा कि काव्य की यह धारा कभी भी लुप्त नहीं हुई। यह कमज़ोर तो हुई पर हिन्दी साहित्य का इतिहास इस बात का गवाह है कि हर युग में ऐसे कवि हुए हैं जिनमें सिद्धों की आत्मा वास करती थी और यह उनके साहित्य में झलकता है। दूसरी भाषाओं से ज़्यादा हिन्दी में सिद्ध काव्य भाव और भाषा-शैली दोनो स्तरों पर विद्यमान है। यह हिन्दी का दुर्भाग्य होगा अगर वह अपनी इस विरासत को किसी बहकावे में आकर 'साम्प्रदायिक' या रहस्यमयी 'संधा' भाषा में लिखा तंत्र-मंत्र मानता रहे। लोक जीवन से उसके सरोकारों के कारण सिद्ध काव्य में हमें सही मायने में साहित्य की सार्थकता और उसकी भूमिका का पता चलता है।

सिद्ध काव्य के साहित्यिक परिप्रेक्ष्य पर विचार के दौरान यह बात सामने आयी कि सिद्ध काव्य और नाथ काव्य में बहुत ज़्यादा समानता है। जिसे हम हिंदी साहित्य का आदिकाल कहते हैं वह समय अपभ्रंश की उन रचनाओं का है जिनमें ब्राह्मणवादी नियम क़ायदों का कही अता-पता नहीं चलता। उलटे इनमें उसका विरोध मौजूद है। इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य की शुरुआत ही ब्राह्मणवाद के विरोध से हुई है। यही कारण है कि इसे हिन्दी साहित्य में जगह नहीं मिलती। जब तक हिंदी साहित्य के भीतर सिद्धों और जैन संतों की रचनाओं को जगह नहीं दी जाती तब तक यह माना जाना चाहिए कि इसकी इतिहासदृष्टि और आलोचना विवेक पर ब्राह्मणवाद का असर है।

चर्यागीतिकोश का नागरी लिप्यांतरण सबसे मुश्किल साबित हुआ, क्योंकि बांगला के विद्वानो ने पक्षपातपूर्ण तरीके से इसके पाठ का बांगलाकरण कर रखा है और इसके चपेट में हिंदी के विद्वान भी आए हुए हैं ।नागरी लिप्यांतरण को इससे मुक्त करना बहुत ज़रूरी था । मैं इसमें कितना सफल हो सका हूँ, यह तो आने वाला समय ही बता सकता है।

परिशिष्ट

‘चर्यागीतिकोश’ का मूल पाण्डुलिपि से नागरी में लिप्यांतरण

१.

राग पटमंजरी, लूईपादानाम

काआ तरुबर पंचबी डाल ।
चंचल चीए पईठो[266] काल ।।
दिढ करिअ महासुह परिमाण ।
लुई[267] भणई गुरु पुच्छिअ जान ।।
सअल समाहिअ काही करिअई ।
सुख दुखते निचित मरिअई ।।
एदिएउ छान्दक बान्ध करणक पाटेर[268] आस ।
सुन्न पाख भिति[269] लाहु रे[270] पास ।।
भणई लुई आम्हे साणे दिठा ।
धमण चमण बेणी पाण्डी[271] बइना ।।

---

[266] पइठा, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[267] लूई, शाहिदुल्लाह ।

[268] करण कपटेर, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[269] भिड़ि, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[270] लेहु रे, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[271] पिण्डि, हरप्रसाद शास्त्री ।

२.

राग गबड़ा, कुक्कुरीपादानाम

दुली दुही पिटा धरण न जाइ ।
रूखेर तेंतली कुम्भीरे खाअ[272] ।।
आंगण धरपण[273] सुन भो बिआती ।
काणेट चउड़ी[274] नील अधराती ।।
ससुरा नीद गेल बहुड़ी जागअ[275] ।
कानेट चोरे नील का गई मागअ[276] ।।
दिबसई काउइ डरे भाअ ।
राति भइले कामरु जाअ[277] ।।
अइसन चरया कुक्कुरिपाए गाइंड़[278] ।
कोडी माझे एकु हिअही समाइड़ ।।

---

[272] खाइ, शाहिदुल्लाह ।

[273] घरयण, शाहिदुल्लाह ।

[274] चौरि, बागची ।

[275] जागइ, शाहिदुल्लाह ।

[276] मागइ, शाहिदुल्लाह ।

[277] जाई, शाहिदुल्लाह ।

[278] गाइल, शाहिदुल्लाह ।

३.
राग गवड़ा, बिरुबापादानाम

एक से सुंडिनी[279] नी दूहि घरए सांधअ[280] ।
चीअण बाकालअ बारुणि बांधअ[281] ।।
सहजे थिर करि बारूणि सांधे ।
जै अजरामर होइ दिठ[282] कांधः ।।
दशमी दुआरत चीण देखइआ ।
आइल गराहक अपणे[283] बहिआ ।।
चउशठि घड़िये देढ़[284] पसारा ।
पइठेल गराहका नाहि निसारा ।।
एक सडूली सरुइ[285] नाल ।
भणंति बिरुआ थिर करि चाल ।।

---

[279] सुंडिणी, नीलरतन सेन ।

[280] संधइ, शाहिदुल्लाह ।

[281] बांधइ, शाहिदुल्लाह ।

[282] दिट, हरप्रसाद शास्त्री ।

[283] आपणे, शाहिदुल्लाह ।

[284] देल, शास्त्री और बागची । देउ, शाहिदुल्लाह ।

[285] सरूअ, शाहिदुल्लाह ।

४.
राग अरु, गुण्डरीपादानाम

तिअडडा[286] चापि जोइणि[287] दे अङकबाली
कमल कुलिश घाण्ट[288] करहूँ बिआली
योइणि ताइ बिणु[289] खणहिं न जिबमि
तो मुह चुम्बी कमलरस पीबमि
खेपहु जोइणी[290] लेप न जाअ
मणिकुले[291] बहिआ ओड़िआणे सगाअ
सासु घरे घालि कोंचा ताल
चाँद सुज[292] बेणि पखा हाल[293]
भणइ गुडडरी[294] अम्हे कुन्दुरे धीरा[295]
नरअ नारि माझे उभिल चीरा

---

[286] तियड़ा, शाहिदुल्लाह ।

[287] जोइनि, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[288] घण्टि, हरप्रसाद शास्त्री ।

[289] बिनु, शास्त्री, बागची ।

[290] जोइनि, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[291] मणिमूले, शाहिदुल्लाह ।

[292] सूज, शाहिदुल्लाह ।

[293] फाल, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[294] गुण्डरी, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[295] बीरा, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

५.
राग गुरज्जरि, चाटिल्लपादानाम

भव नई गहन गम्भीर बेगे बाही
दु आन्ते चिखिल माझे न थाही
धामार्थ चाटिल सांकम गढ़ई
पार गामि लोअ निभर[296] तरई
फाडेडिअ[297] मोहतरु पाटि[298] जोड़िअ
आदअ दिढ़[299] तांगी निबाणे को हिअ
सांकम त चाड़िले दाहिन बाम मा कोहि
निअड़ड़ी बोहि दूर मा जाही
जई तुम्हे लोअ हे होइबा पारगामी
पुच्छ्तु[300] चाटिल अनुत्तर सामी

---

[296] नीभर, शाहिदुल्लाह ।

[297] फाडडिअ, नीलरतन सेन ।

[298] पटि, नीलरतन सेन ।

[299] फिढ़, नीलरतन सेन ।

[300] पुच्छह, शाहिदुल्लाह ।

६.
राग पटमँजरी, भुसकुपादानाम

कहैरि घिनि[301] मेलि अच्छाहु कीसा ।
बेढ़िल ड़ाक पड़अ[302] चऊदीसा ।।
अपणा माण सै हरिणा बैरी ।
खनह न छाड़अ भुसुकु अहेरी ।। ध्रु०।।
तीण न छुबइ[303] हरिणा पिबइ न[304] पाणी ।
हरिणा हरिणीर निलअ न जाणी ।।
हरिणी बोलअ हरिणा[305] सुण हरिआ तो ।
ए बण छाड़ी[306] होहू भांतो ।।
तरँगते हरिणार खुर न दीसअ[307] ।
भुसुकु भणइ मूढ़ हिअहि ण पइसई ।।

---

[301] घेणि, बागची ।

[302] पड़इ, शाहिदुल्लाह ।

[303] च्छुपइ, शास्त्री, बागची ।

[304] ण, नीलरतन सेन ।

[305] बागची ने इस शब्द को छोड़ दिया है ।

[306] च्छाड़ि, शास्त्री, बागची ।

[307] दीसइ, बागची, शाहिदुल्लाह ।

७.
राग पटमँजरी, काह्नपादानाम

आलिऐ कालिऐ बात[308] रुंधेला ।
ता देखि काह्न[309] बिमन भैला ।।
काह्न कहिर[310] गइ करिब निबासा ।
जो मन-गोअर सो उआसा ।।
ते तिनि ते तिनि तिनि हो भिन्ना ।
भणइ काह्न[311] भब परिच्छिन्ना ।।
जे जे आइल ते ते गेला ।
अबणा-गबणे काह्न बिमण भइला ।।
हेरी से काह्ही निअड़ि[312] जिनउरा बट्टई।
भणई काहण मो हिअहि न पइसइ।।

---

[308] बाट, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[309] काह्नु, शास्त्री और बागची ।

[310] कहि, शास्त्री, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[311] काह्नु, शास्त्री और बागची ।

[312] निअड़ी, शास्त्री, बागची और शाहिदुल्लाह ।

८.

राग देवक्री, कंबलाम्बरपादानां

सोने[313] मरिलि[314] करुणा नाबी।
रूपा थोइ नहिके[315] ठाबी।।
बाहतु कामलि गअण उबेसे।
गेली जाम बहुड़इ कईसें।।
खुण्टी उपाड़ी मेलिलि काच्छी।
बाहतु कामलि सदगुरु पुच्छी।।
माण्गत चढ़िले चौदिस चाहअ[316]।
केडुआल नाहिं के कि बाहब के पारअ।।
बाम दाहिन चापी मिलि मिलि मागा[317]।
बाटत मिलिल महासुह संगा।।

---

[313] सोणे, शाहिदुल्लाह ।

[314] भरिती, शास्त्री, बागची ।

[315] नाहिक, शास्त्री, बागची ।

[316] चाहइ, शाहिदुल्लाह ।

[317] मांगा, शाहिदुल्लाह ।

९.

राग पाटमंजरी। काह्नपादानाम

एबंकार द्रढ़[318] बाखोड़ मोड़ड़िउ।
बिबिह बिआपक बांधण तोडिउ।।
काहण विलसअ आसब माता।
सहज नलिनीबण पइसि निबिता।।
जिम जिम करिणा[319] करिणिरे रिसइ।
तिम तिम तथता मअगल बरिसइ।।
छड़गइ सअल सहाबे सूध।
भाबाभाब बलाग न[320] छुध।।
दराब'ब[321] रअण हरिअ दसदिसें।
विद्या[322] करि दमकूँ अकिलेसे।।

---

[318] दिढ़, शाहिदुल्लाह ।

[319] करिआ, शाहिदुल्लाह ।

[320] ना, शास्त्री ।

[321] दशाबल, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[322] अविद्या, बागची ।

१०.

राग देशाख

नगर/मगर[323] बारि हिबें डोम्बि चोंचोंरीक डिआ ।
छई[324] छोई जाई सो बमहन दिआ[325] ।।
आल्लो डोम्बि तोए सम करिबे[326] म साअ[327] ।
निघिण कह्ण कापाली जोइ नाग ।।
एक सो पद्मा चोसठी[328] पाखुडी ।
तहिं चढ़ि नाचअ डोबी बापुडी ।।
पा डोम्बी तो पूछमि सदभावे ।
अइससि जासि डोम्बि काहरि[329] नाबें ।।
तांति/ताडि रिकणअ डोम्बी अबरना चंगेअ ।
तोहोर अन्तरे छाड़िन छएड़ा ।।
तू लो डोम्बि हाउ कपाली ।
तोर अन्तरे मोए घलिलि हाड़ेरि[330] माली ।।
सरबर भांजीअ डोम्बी खाअ मोलाअन ।
मारम डोम्बि लेमि परान ।।

---

[323] यहाँ लगभग सभी विद्वानों ने 'मगर' को 'नगर' पढ़ा है । पर पाण्डुलिपि को देखने से साफ़ पता चलता है कि 'न' कि जगह 'म' लिखा है ।

[324] छोइ, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[325] इसे नीलरतन से 'बाम्ह नाढ़िआ' पढ़ते हैं । जबकि बागची और डॉक्टर शाहिदुल्लाह इसे क्रमशः 'बम्मण' और 'बम्हण' पढ़ते हैं ।

[326] करिब, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[327] नीलरतन सेन इसे 'सांग' पढ़ते हैं ।

[328] चौसठ्ठि, नीलरतन सेन, शाहिदुल्लाह ।

[329] काहेरि, शाहिदुल्लाह ।

[330] हाड़ेर, हरप्रसाद शास्त्री ।

११.

राग पट्टमंजरी । कृष्णाचार्य पादानां

नाडि शक्ति दिढ़ धरिअ[331] खटंगे/खंगे।
अनहा डमरू बाजए[332] बीर नादे।।
काहण कपाली योगी[333] पइठइ चारे[334]।
देह नअरी बिहरइ एकारे।।
आलि कालि घण्टा नेउर चरने।
रव्वि[335] शशि कुंडल किछु[336] आभरने।।
राग देस[337] मोह लाइअ छार ।
परम मोख लबए मुतिहार ।।
मारिअ सासु नणद[338] धरे साली।
माअ मारिआ काह्न भएलअ कबाली ।।

---

[331] धरिआ, शाहिदुल्लाह ।

[332] बाजइ, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[333] जोइ, शाहिदुल्लाह ।

[334] अचारे, नीलरतन सेन ।

[335] रबि, नीलरतन सेन ।

[336] किउ, नीलरतन सेन ।

[337] देश, बागची । देष, नीलरतन सेन ।

[338] नणन्द, नीलरतन सेन और शाहिदुल्लाह ।

१२.

भैरवी । कृष्णपादानां ।

करुणा पिहाडि[339] खेलहु नय बल ।
सदगुरु बोहे जितेल भब बल ।।
फीटउ[340] दुआमा देसि[341] रे ठाकुर ।
उआरि उएसं काह्न णिअड़ जिन उर[342] ।।
पहिले तोडि आब डिआ मराडि दउ ।
गअब रें तोलिआ[343] पाखु जणा घोलिउ ।।
मलिएं ठाकुरक पर नेबित्ता ।
अबस[344] करिआ भब बल जिता ।।
भणइ काहण आम्हे भलि दाह[345] देऊ ।
चउषठ्ठि कोठा गुणिया लेहं[346] ।।

---

[339] पीढ़ही, शाहिदुल्लाह ।

[340] फिटिउ, शाहिदुल्लाह ।

[341] मादेसि, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[342] जिनउर, नीलरतन सेन ।

[343] तोड़िआ, बागची ।

[344] अबश, शास्त्री और बागची ।

[345] भाल दान, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[346] लेहू, नीलरतन सेन ।

१३.
राग कामोद, कृष्णपादानां

तिसारण णारी किअ अठकमारी[347] ।
निअ देह करुणां सम बेहेली[348] ।।
तरिठा भबजलधि जिअ करि माअ सुइणा[349] ।
माझ[350] बेनी तरंगम मुनिअ ।।
पंच तथागत किअ केठ्ठुआल ।
बाहअ काअ कहिल माआजल ।।
गंध परसर[351] जइसो तइसो ।
णिंद बिहुने सुइना[352] जइसो ।।
चिअ कण्णहार[353] सुणत मांगे ।
चलिल काह्न महासुह सांगे ।।

---

[347] अठ कुमारी, नीलरतन सेन ।

[348] मेहेलि, नीलरतन सेन ।

[349] सुइना, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[350] मझ, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[351] गंधपरसर, बागची, शाहिदुल्लाह और नीलरतन सेन इसे एक साथ पढ़ते हैं ।

[352] सुइणा, नीलरतन सेन ।

[353] कंडहार, नीलरतन सेन ।

१४.
धनसी राग, डोम्बिपादानां

गंगा जउना[354] माझें रे बहइ नाइ ।
तहिं चूडिली मातंगि पोइआ लीले पार करेइ ।।
बाह तू डोम्बि बाह लो डोम्बि बाठत भइल उछारा ।
सदगुरु पाअ पलुं[355] जाइब पुनु जिनउरा ।।
पारी[356] केडुआल पड़न्ते मांगे पिटत[357] काछी बान्धी ।
गअण दुखोले[358] सिंचहुं पानी न पइसइ सान्धी ।।
चन्द[359] सुज्ज दुइ चक मिठी[360] संहार पुलिंदा ।
बाम दाहिन दुइ भाग न रेबउ[361] बाहतु छंदा ।।
कबडी न लेइ बोडी न लेइ सुघड़[362] पाड़ करेइ ।
जो रथे चलिला बाहबा नि जाइ कूले कूल बूड़इ[363] ।।

---

354 जउणा, नीलरतन सेन ।

355 पएं, नीलरतन सेन ।

356 पाँच, नीलरतन सेन ।

357 पिठत, शास्त्री, बागची ।

358 गअणदुखोले, शास्त्री और बागची इसे एक ही शब्द मानते हैं ।

359 चांद, शाहिदुल्लाह ।

360 सिठि, नीलरतन सेन ।

361 चेबइ, शास्त्री, बागची, शाहिदुल्लाह ।

362 सूच्चढ़े, नीलरतन सेन ।

363 बुलइ, बागची, शाहिदुल्लाह ।

१५.

राग रामकी। शान्तिपादानां

सअ सम्बेअन[364] सरुअ बिआरें ते अलक्ख लक्खन न जाई ।
जे जे उजु बाटे[365] मेलाअना बाटा भइला सोई ।।
कूले कूल मा होइ[366] रे मूढ़ा उजु बाट संसारा ।
बानति न एक बाअ न भूलह राजपथक धारा ।।
माआ मोहा समुदारे अन्त न चूमसि थाहा ।
अगे नाब न भेला दीसअ भन्ति न पूछसि[367] नाहा ।।
सुना पान्तर उह न दीसइ भान्ति न बा ससि जांले ।
एसा[368] अठ महासिद्धि सिस ए[369] उजु बाट जाअल्ले ।।
बाम दाहिन दो घाट[370] छाडी सान्ति छूलथेउ संकलिउ ।
घाट न गुमा खड तडिनो[371] होइ आखि बूजिबनां च जांइउ ।।

---

[364] सम्बेअण, नीलरतन सेन ।

[365] उजूबाटे, नीलरतन सेन ।

[366] होहि, शाहिदुल्लाह ।

[367] पुच्छसि, शास्त्री, बागची ।

[368] एशा, नीलरतन सेन । एथा, शाहिदुल्लाह ।

[369] सिझइ, शास्त्री, बागची ।

[370] बाट, नीलरतन सेन ।

[371] खढतढि, नीलरतन सेन ।

१६.
राग भैरवी, महिधर पादानां

तिनिएं[372] पाटे लागेलि रे अणह कसण घण गाजइ ।
ता सुनि मार भयंकर रे सअ[373] मंडल सएल भाजइ ।।
मतेल चीअ गणदा बाबइ[374] ।
तिरनुर गअणन्त तुसें घोलइ ।।
पाप पुंण्य बेनि तिडिअ[375] सिकल मोड़िअ खम्भा ठाणा ।
गअण टाकली लागि रे चिअ पइठ निवाणा[376] ।।
महारस पाने मातेल रे तिहुअण सअएल उएरवी ।
परउ[377] विषअ रे बायं क रे बिपख को बिन देखी ।।
खरर बिकिरण संतापे रे गअणा गणगइ पइठा ।
भणन्ति महि भामइ एथू बुडन्ते किम्पिन दिठा[378] ।।

---

[372] तिनि ऐ, शास्त्री ।

[373] सअल, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[374] धाबइ, नीलरतन सेन ।

[375] तिढ़िआ, सेन । तोढ़िआ, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[376] णिबान, शास्त्री, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[377] पाँच, नीलरतन सेन ।

[378] दीठा, प्रबोध चन्द्र बागची ।

१७.
राग पटमंजरी, बीनापादानां

सुज[379] लाउ ससि लागेलि ताण्ती ।
अणहा दाण्डी चाकि[380] किअत अबधूती ।।
बाजइ आलो सही हेरूअ बीणा ।
सुण ताण्ति-धनी बिलसइ रुणा ।।
आलि-कालि बेणि सारी सुणेआ[381] ।
गअबर समरस सान्धी गुणिआ ।।
जबे करहा करहकाले चिपिउ[382] ।
बतिस तान्ति धनि सएल बयापिउ[383] ।।
नाचंति बाजिल गाअंति[384] देबी ।
बुद्ध नाटक बिसमा होइ ।।

---

[379] सूज, शाहिदुल्लाह ।

[380] बाकि, सेन । एकि, बागची ।

[381] मुणेआ, सेन । सुणिआ, शास्त्री ।

[382] पिचिउ, नीलरतन सेन ।

[383] सअल बिआपिउ, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[384] गान्ति, नीलरतन सेन ।

१८.

राग गौड़ा । कृष्णवज्रपादानाम ।

तिणि[385] भुवण मइ बाहिअ हेलै ।
हअउ सुतेलि महासुह लीले[386] ।।
कैसणी हालो डोम्बी तोहरि भाभरिआली ।
अन्ते कुलिनजण मझे[387] काबाली ।।
ताइ लो डोम्बी सअल बीतालिउ[388] ।
काज ण[389] कारण ससहर टालिउ ।।
केहो केहो तोहरे बिरुआ बोलइ ।
बिदुजण-लोअ तोरे कंठ ण मेलई ।
काहणे गाई तु कामचण्डाली ।
डोम्बित आगली णाहि छिनाली[390] ।।

---

[385] तिणी, शाहिदुल्लाह ।

[386] लीड़े, सेन । लिले, बागची ।

[387] माझै, नीलरतन सेन ।

[388] बिटालिउ, नीलरतन सेन ।

[389] काजण, शास्त्री, बागची ।

[390] च्छीणाली, शास्त्री, प्रबोध चंद्र बागची ।

१९.

राग भैरवि, कृष्णपादानां ।

भब निर्भाणे[391] पड़ह मादल ।
मण-पबण बेणि करण्ड-कशाला[392] ।।
जा जा दुम्दुहि साब्द[393] उछलिआ ।
काह्न डोम्बि बिबाहे चलिला[394] ।।
डोम्बि बिबाहिअ अहारिउ जाम ।
जउतुके किअ आनुतु धाम ।।
अहनिसि[395] सुरअ पसाम्गे जाअ ।
जोइणी-जाले राआणी पोहाअ ।।
डोम्बीएर[396] सण्गे जो जोइ रत्तो ।
खणह ण चाड़अ सहज उन्मत्तो ।।

---

[391] भबनिर्भाणे, नीलरतन सेन ।

[392] हरप्रसाद शास्त्री ने इन दोनो करण्ड, कशाला को एक ही शब्द माना है ।

[393] सादू, नीलरतन सेन । साद, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[394] उछलिला, बागची ।

[395] अहिणिसि, नीलरतन सेन ।

[396] डोम्बी-एरा, शाहिदुल्लाह ।

२०.

राग पटमण्जरी । कुक्कुरीपादानाम ।

हाअउ निरासी खमण भतारे[397] ।
मोहोर बिगोया कहण न जाइ ।।
फेटालिउ[398] गो माए अंतउड़ी चाहि ।
जा एथु चाहाम[399] सो एथु नाहि ।।
पहिला बिआण मोर बासन पूड़ा ।
नाड़ी बिआरन्ते सेब[400] बा पूड़ा ।।
जा ण-जौबण मोर भइ लेसी पूरा ।
मूल नखलि[401] बाप सम्घारा ।।
भणथि कुक्कुरिपा ए भब[402] थिरा ।
जो एथु बुझए[403] सो एथु बीरा ।।

---

[397] खमण भतारी, शाहिदुल्लाह ।

[398] फिटालेसि, हरप्रसाद शास्त्री ।

[399] बाहाम, हरप्रसाद शास्त्री ।

[400] सेअ, शाहिदुल्लाह ।

[401] माअ निखलि, शाहिदुल्लाह ।

[402] कुक्कुरीपा ए भब, शास्त्री, बागची ।

[403] बुझइ, बागची और शाहिदुल्लाह ।

२१.

राग बराड़ी । भुसुकुपादानाम ।

निसिअ[404] अंधारी मुसार चारा[405] ।
अमिअ भखा मुसा करा[406] आहारा ।।
मार रे जोइआ मूसा पबणा ।
जेणा[407] टूटाअ अबणा-गबणा ।।
भब बिंदारअ मुसा खणअ गाती ।
चंचल मुषा उह ण बाण ।।
गअणे उठी चरअ अमण धाण ।।
तब से मुषा ऊँचल-पाँचल ।
सदगुरु बोहे करिह सो णिच्चल ।।
जाबे मुषाएरा अचार[408] टूटअ ।
भुसुकु भणअ तबे बांधन फिटअ[409] ।।

---

[404] निसि, बागची । निसित, शाहिदुल्लाह ।

[405] आचार, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[406] करइ, शाहिदुल्लाह ।

[407] जे ण, नीलरतन सेन ।

[408] जबे मुसा अचार, हरप्रसाद शास्त्री ।

[409] फीटइ, शाहिदुल्लाह ।

२२.

राग गुंण्जरी । सरहपादानाम ।

अपणे रचि रचि भब-निर्बाणा ।
मिछै लोअ बंधाबए अपणा ।।
अम्भे न जानहु[410] अचिंत जोइ ।
जाम-मरण भब कइसण होइ ।।
जइसो जाम मरण भी तइसो ।
जीबंते मअलै[411] णाहि बिशेसो ।।
जा एथु[412] जाम मरणे बी संका ।
सो करउ रस-रसाणेरे कम्खा ।।
जे सचराचर तिअस भमन्ति ।
ते अजरामर किम्पि न होन्ति ।।
जामे काम कि कामे जाम ।
सरह भणति अचिंत सो धाम ।।

---

[410] जानाहू, शास्त्री । जानहू, शाहिदुल्लाह ।

[411] मइले, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[412] जाएथु, हरप्रसाद शास्त्री ।

२३.

राग बराड़ी । भुसुकुपादानाम ।

जइ तुम्हे भुसुकु[413] अहेइ[414] जाइबै[415]
मारिहसि पण्चजण ।
नलणीबन पइसंते होहिसि एकुमण ।।
जिबन्ते भेला बिहणि मएल[416] णाणि ।
हण बिणु माम्से[417] भुसुकु पद्मबण पइसहिणि ।।
माआजाल पसरिऊ रे[418] बाधेलि माआहरिणी ।
सदगुरु-बोहै बुझि रे कासु कहिनि[419] ।।

---

[413] बुसुक, नीलरतन सेन ।

[414] अहेरि, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[415] जाइब, शाहिदुल्लाह ।

[416] बिहाणि मइल, शाहिदुल्लाह ।

[417] गहणबिणु मौसे, शाहिदुल्लाह ।

[418] पसारि ऊरे, हरप्रसाद शास्त्री ।

[419] कदिनि, नीलरतन सेन ।

२६.
राग शिबरि । शान्तिपादानाम ।

तुल धुणि धुणि ऐसुरे ऐसु ।
ऐसु धुणि धुणि णिरबर[420] सेसु ।।
तउशे हेरुअ[421] ण पाबिअइ ।
सांति भणइ किण स भाबिअइ ।।
तुला धुणि धुणि सुने[422] अहारिउ ।
पूणा लइआ अपणा[423] चटारिउ ।।
बहल बट दुइ मार न दिषअ ।
सांति[424] भणइ बालाग न पइसअ ।।
काज न कारण जा एहु जुअति[425] ।
सैऐसम्बेअण बोलथि सांति ।।

---

[420] निरबब, शाहिदुल्लाह ।

[421] तउ से हेरुअ, बागची, शाहिदुल्लाह ।

[422] सुणे, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[423] आपणा, शाहिदुल्लाह ।

[424] शान्ति, शास्त्री और बागची ।

[425] जअति, हरप्रसाद शास्त्री ।

२७.

राग कामोद, भुसुकुपादानाम ।

अधराति[426] भर कमल बिकासउ ।
बतिस योइणी[427] अँग उहलसिउ ।।
चलिउअ शशहर मागे अबधूइ ।
रअणहु शहजे कहेइ ।।
चलिअ[428] शशहर गउ निबाणै ।
कमलिनि कमल बहइ पणालै ।।
बिरमानन्द बिलक्षण[429] सुधा ।
जो एथु बुझइ सो एथु बुधा[430] ।।
भुसुकु भणइ मइ बुझिअ मेलै[431] ।
सहजानन्द महासुह लीलै ।

---

[426] आधराति, शाहिदुल्लाह ।

[427] जोइनी, शास्त्री और शाहिदुल्लाह ।

[428] चालिअउ, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[429] बिलक्खण, शाहिदुल्लाह ।

[430] बूध, शाहिदुल्लाह ।

[431] मेले, बागची और शाहिदुल्लाह ।

२८.

राग बलाड़्ड़ी[432] । सबरपादानाम ।

ऊँचा ऊँचा[433] पाबत तहि[434] बसइ सबरी बाली ।
मोरण़ी-पिच्छ परहिण[435] सबरी गिबत गुँजरी माली ।।
उमत सबरो पागल सबरो मा कर गुली-गुहाड़ा तोहौरी ।
निअ घरिणी णामे सहज सुन्दारी ।।
णाणा[436] तरुबर मौलिल रे गअणत लागेलि डाली ।
एकेली सबरी ए बण हिण्डइ कर्णणकुण्डल-बज्रधारी ।।
तिअ धाउ खाट पड़ीला सबरो महासुहे सेजि चाइली ।
सबरो-भुजण्ग णइरामणि-दारी पेम्म राति पोहाइली ।।
हिअ तबोला महासुहे कापुर खाइ ।
सुन-नीरमणि[437] कण्ठे लइआ महासुहे राति पोहाइ ।।
गुरु-बाक पुँचआ बिन्ध णिअमणे बाणे ।
एके सरसंधणे बिन्धह बिन्धह परम निबाणै ।।
उमत सबरी गरुआ रोशे ।
गिरिबर-सिहर-सन्धि पइसंन्ते सबरो लोड़िब कइसे ।।

---

[432] बराढ़ी, शाहिदुल्लाह ।

[433] ऊचा ऊचा, शास्त्री और बागची ।

[434] ताही, शास्त्री, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[435] परिहण, शाहिदुल्लाह ।

[436] नाना, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[437] नैरामणि, बागची और शाहिदुल्लाह ।

२९.

राग पटमँजरी । लूईपादानाम ।

भाब न होइ अभाब न जाइ ।
आइस[438] सम्बोहै को पतिआइ ।।
लूइ भणइ बाट[439] दुरलक्ख बिणाणा ।
तिअ धाए बिलसइ उह णा ठाणा[440] ।।
जाहेर बनचिह्न रूब ण जाणी ।
सो कइसे आगम बेऐ बखाणी ।।
कहेरे किशभणि मइ दिबि पिरिच्छा ।
उदक चाँद जिम साच न मिछा[441] ।।
लूई भणइ मइ भाइब[442] कीश ।
जा लइ अच्छम ताहेर उह ण दिसा[443] ।।

---

[438] अइस, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[439] लुइ भणइ बढ़, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[440] लागे णा, शास्त्री, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[441] मिच्छा, शास्त्री, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[442] भाबइ, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[443] दिस, नीलरतन सेन ।

३०.

राग मल्लारि । भुसुकुपादा नाम ।

करुणा-मेह निरन्तर फरिआ ।
भाबाभाब द्वंद्वल[444] दलिआ ।।
उइत्ता गअण माझे अदभूआ[445] ।
पेख रे[446] भुसुकु सहज सरुआ[447] ।।
जासु सुणन्ते तुट्टइ[448] इन्दिआल ।
निहुरे निअ मन ण दे उलास[449] ।।
बिसअ-बिसुद्धि मइ बुज्झिअ[450] आनन्दे ।
गअणह जिम उजोलि चान्दे ।।
ए तैलोए एत बिशारा ।
जोइ भुसुकु हेतभइ अंधकारा ।।

---

[444] दुंदुल, शाहिदुल्लाह ।

[445] अदभुआ, नीलरतन सेन ।

[446] पेखरे, शास्त्री और बागची ।

[447] सहजसरुअ, शाहिदुल्लाह ।

[448] तुटइ, शाहिदुल्लाह ।

[449] देअ उलाल, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[450] बुझिअ, शाहिदुल्लाह ।

३१.
राग पटमँजरी । आर्यदेवपादानाम ।

जहिमन इंदिअ-पबण[451] हो णाथा ।
ण जाणमी अपा काहि गइ पइठा ।।
अकट करुणा डमरुलि[452] बाजअ[453] ।
आजदेब निराले[454] राजइ[455] ।।
चान्दरे चांदकान्ति जिम पतिभासअ ।
चिअ बिकरणे[456] ताहि टालि पइसइ[457] ।।
छाड़िअ भअ[458]-घिण लोआचार ।
चाहंते चाहंते सुण बिआर ।।
आजदेबै सअल बिहारिउ ।
भाया-घिण दुर निबारिउ[459] ।।

---

[451] बण, नीलरतन सेन ।

[452] करुणा डमदुलि, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[453] बाजइ, शाहिदुल्लाह ।

[454] णिरासे, शास्त्री और शाहिदुल्लाह ।

[455] राजअ, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[456] चिअबि करणे, शाहिदुल्लाह ।

[457] पइसअ, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[458] छाड़िअ भय, शास्त्री और बागची ।

[459] दूर णिबारिउ, बागची और शाहिदुल्लाह ।

३२.

राग देशाख । सरहपादानाम ।

नाद न बिंदु न रबि न ससिमण्डल[460] ।
चिअराअ सहाबे मूकल ।।
उजु रे उजु[461] छाड़ि मा लेहुरे बंक।
निअढ़ि[462] बोहि मा जाहुरे लांक।।
हाथेरे[463] कांकाण मा लेउ दापण ।
अपणे अपाबुझ तु निअमण[464] ।।
पार उआरे सोइ[465] गजिइ ।
दुज्जन[466] साँगे अबसरी जाइ[467] ।।
बाम-दाहिण जो खाल-बिखला ।
सरह भणइ बपा[468] उजुबाट भाइला ।।

---

[460] शशिमण्डल, शास्त्री, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[461] उज्ज, नीलरतन सेन ।

[462] नइहि, हरप्रसाद शास्त्री ।

[463] हाथेर, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[464] निअ मण, शास्त्री और शाहिदुल्लाह ।

[465] जोइ, शाहिदुल्लाह ।

[466] दुज्जण, शास्त्री और शाहिदुल्लाह ।

[467] अबसस मरि जाइ, शाहिदुल्लाह ।

[468] बापा, प्रबोध चन्द्र बागची ।

३३.

राग पटमँजरी । टेण्टणपादानाम ।

टालत मोर घर नाहि पड़बेषी ।
हाड़ीत भात नाहि निति आबेशी ।।
बेग[469] सम्सार बढ़िल[470] जाअ ।
दुहिल दुधु कि बेण्टे शामाअ[471] ।।
बलद बिआएल[472] गबिआ बाझे ।
पिटा[473] दुहिए ए तिना साझे[474] ।
जो सो बुधि सौध निबुधी[475] ।
जो सो चौर सौ दुशाधी ।।
निते निते शिआला शिहे शम जुझअ[476] ।
टेण्टणपाएर गीत बिचिरलै बुझअ ।।

---

[469] बेंग, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[470] चढिल, शाहिदुल्लाह ।

[471] सामा, नीलरतन सेन ।

[472] बिआअल, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[473] पिह्ढ़ा, शाहिदुल्लाह ।

[474] साझ्ये, नीलरतन सेन ।

[475] बुधी, नीलरतन सेन ।

[476] जूझइ, शाहिदुल्लाह ।

३४.

राग बराड़ि । दारिकपादानाम ।

सुन करुणारि[477] अभिनचारे[478] काअबाकचिअ ।
बिलसइ डारिक गअणत पारिम कुलै ।।
अलक्ष लखचित्ता[479] महासुहे ।
बिलसइ दारिक गअणत पारिम कुलै ।।
किन्तो मांते किन्तो तान्ते[480] किन्तो रे झाणबखाने ।
अपइठान महासुहालीले दुलख परम निबाणे ।।
दुह्खै सुखै एकु करिआ भुंजइ[481] इंदिजानी ।
स्वपरापर न चेबइ दारिक सअलअनुत्तर माणी ।।
राअ राअ राअरे[482] अबर राअ मोहेरा बाधा ।
लूइपाअपए[483] दारिक द्वादश भुअणै लधा[484] ।।

---

[477] सुन करुणा रे, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[478] अभिनबाने, नीलरतन सेन ।

[479] अलक्ख लक्ख चिअ, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[480] किम तो तंते, शाहिदुल्लाह ।

[481] भुन्जह, शाहिदुल्लाह ।

[482] राआ रे, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[483] लूइ पाअपए, शास्त्री और बागची ।

[484] लाधा, बागची और शाहिदुल्लाह ।

३५.

राग मल्लारि । भादेपादानाम ।

एतकाल हाऊ[485] अच्छिलै स्वमोहै ।
एबै मइ बुझिल सदगुरु बोहै ।।
एबै चिअराअ मकू[486] नाथा ।
गअण-समुदै टलिआ पइठा ।।
पेखमि दहदिह सरब्बइ[487] शून ।
चिअ बिहुन्ने पाप न पुन्न[488] ।।
बाजुले[489] दिल मोहलखु भणिआ ।
मइ अहारिल गअण्त पणिअ[490] ।।
भादे[491] भणइ अभागे लइआ ।
चिअराअ माइ अहार कएला ।।

---

[485] अहाऊ, नीलरतन सेन ।

[486] मोकु, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[487] सब्बइ, नीलरतन सेन ।

[488] पून, शाहिदुल्लाह ।

[489] राजुले, नीलरतन सेन ।

[490] पणिऔ, नीलरतन सेन ।

[491] भाबे, नीलरतन सेन ।

३६.
राग पटमँजरी । कृष्णाचार्यपादानाम ।

सुण[492] बाह तथता पहारी ।
मोह-भण्डार लइ[493] सअला अहारि[494] ।।
घुमइ ण चेबइ सपरबिभागा ।
सहज निडालु[495] काह्निल लाँगा ।।
चेअण ण बेअण[496] भर निदा गेला ।
सअल सुफल[497] करि सुहे सुतेला ।।
स्वपणे मइ देखिला तिहुबण सुणा ।
घोरिअ अबणा-गमण बिहुण[498] ।।
शाखि करिब जालंधरि पाए[499] ।
पाखि ण राहअ[500] मोरि पाण्डिआचादे ।।

---

[492] सुन, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[493] लुइ, हरप्रसाद शास्त्री ।

[494] सअल आहारी, शाहिदुल्लाह ।

[495] निदालु, नीलरतन सेन ।

[496] चेअन न बेअन, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[497] मुकल, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[498] बिहल, नीलरतन सेन ।

[499] जालन्धरिपात्र, हरप्रसाद शास्त्री ।

[500] चहइ, बागची और शाहिदुल्लाह ।

३७.

राग कामोद । ताड़कपादानाम ।

अपणे नाहि मो[501] काहेरि सँका[502] ।
ता महामुदेरि टूटी[503] गेलि कम्कआ ।।
अनुभब सहज मा भोलारे जोइ[504] ।
चौकोढ़ी बिमुका जइसो तइसो होइ ।।
जइसने अछिले स[505] तइसने अच्छ ।
सहज पिथक[506] जोइ भान्ति माहो बास ।।
बाण्ड-कुरुण्ड सण्तारे जाणी ।
बाकपथातीत[507] काहि बखाणी ।।
भणइ ताड़क एशु नाहि अबकाष ।
जो बुझइ ता गलै[508] गलपास ।।

---

[501] सो, शास्त्री और बागची ।

[502] शंका, शास्त्री और बागची ।

[503] टुटि, नीलरतन सेन ।

[504] जोई, नीलरतन सेन ।

[505] इंछिलेस, शाहिदुल्लाह ।

[506] पथक, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[507] बाक पथातित, शाहिदुल्लाह ।

[508] गले, प्रबोध चन्द्र बागची ।

३८.

राग भैरवि । सरहपादानाम ।

काअ णाबढ़ी[509] खाण्टि मण केडुआल ।
सदगुरु बअणे धर पतबाल ।।
चिअ थिरकरि धरहुरे नाही[510] ।
अन[511] उपाये पार ण जाइ ।।
नौबाही नौका टानअ गुणे ।
मेलि मेलि सहजै[512] जाउ ण आणे ।।
बाटअ भाअ[513] खाण्ट बि बलआ ।
भब उलोलै शअ बि बोलिआ ।।
कुल लइ खरे[514] सोंते उजाअ ।
सरह भणइ गअणे पमाऐ[515] ।।

---

[509] नबढ़ि, नीलरतन सेन ।

[510] नाइ, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[511] आन, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[512] सहजे, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[513] बाटत भअ, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[514] खर, हरप्रसाद शास्त्री ।

[515] समाअ, प्रबोध चन्द्र बागची ।

३९.

राग मालशि । सरहपादानाम ।

सुइणा हथ बिदारम रे , निअमण तोहोरै दोसै ।
गुरुबअण बिहारे रे, थाकिबा तइ घुण्डा कइसै[516] ।।
अकट हू भबइ गअणा ।
बाण्गे जाया णिलेसि परे भागेल तोहोर बिणाणा ।।
अदअभुअ भब मोहा रे[517] । दिसइ पर अप्याणा ।
ए जग जलबिम्बाकारे सहजै सुण अपणा ।।
अमिआ आछन्तै बिस गिलेसि रे । चिअ परबस[518] अपा ।
घरै पारे का बुज्झिले म रे खाइब मइ दुठ कुण्डुबा[519] ।।
सरह भणन्ति बर सुण[520] गोहाली कि मो दुठ्या[521] बलम्डै ।
एकैले जग नासिअ रे । बिहारहू इच्छन्द्रै[522] ।।

---

[516] कइसे, शास्त्री, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[517] भबमोहारे, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[518] पर बस, शाहिदुल्लाह ।

[519] कुण्डबा, शास्त्री और बागची ।

[520] सूण, नीलरतन सेन ।

[521] दुठ, शास्त्री, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[522] सुच्छंदे, प्रबोध चन्द्र बागची ।

४०.

राग मालसि - गबुड़ा । काहण्पादानाम ।

जो मण-गोअर[523] आल-जाल[524] ।
आगम-पोथी इष्टामाला ।।
भण कइसै सहज बोल बा जाअ[525] ।
काअ-बाक-चिअ जसु ण समाअ ।।
आले गुरु उएसइ सीस ।
बक्पथातीत काहिब कीस ।।
जे तइ[526] बोलि ते तबि टाल ।
गुरु बोबा[527] से सीस काल ।।
भणइ काह्न जिण रअण बि कइसा ।
कालै बोबा[528] सम्बोहिअ जइसा ।।

---

[523] गोएर, नीलरतन सेन ।

[524] आला-जाला, शाहिदुल्लाह और सेन ।

[525] बोलबा जाइ, शाहिदुल्लाह ।

[526] जेत इ, हरप्रसाद शास्त्री ।

[527] बोध, नीलरतन सेन ।

[528] काल बोबे, शाहिदुल्लाह ।

४१.

राग काह्न-गुँजरी । भुसुकुपादानाम ।

अइए अणुअनाए जगरै[529] भाम्तिए सो पड़िहाइ ।
राजसाप[530] देखी जो चमकीइ साचे[531] किं तं बोड़ो खाइ ।।
अकट जोइआ रे मा कर हथा लोहणा[532] ।
आइसअ सहाबै[533] जइ जग बुझशी[534] तुट बाशणा तोरा ।।
मरुमरीचि गंधणइरी दापतिबिंबु जइसा ।
बाताबत्तै सो दिढ़[535] भइआ अपै पाथर जइश ।।
बाधिसुआ जिम केलि करइ खेलइ बहुबिह खेड़ा ।
बालुआतेलै ससर सिम्गे आकाशे[536] फूलिला ।।
राउतु भणइ कट भुसुकु भणइ कट सअल अइस सहाब ।
जइ तो मूढ़ा अच्छसि भाण्ती पुच्छ तु सदगुरु पाब ।।

---

[529] जगरे, नीलरतन सेन ।

[530] राज साप, शाहिदुल्लाह ।

[531] शारे, नीलरतन सेन ।

[532] लोणा, शाहिदुल्लाह ।

[533] सभैवे, शास्त्री और बागची ल

[534] बूझसि, शाहिदुल्लाह ।

[535] दिट, हरप्रसाद शास्त्री ।

[536] आकाश, शास्त्री और बागची । आकास, शाहिदुल्लाह ।

४२.

राग कामोद । काह्नपादानाम ।

चिअ सहजे सूण सम्पुन्ना ।
कांध बियोए मा होहि[537] बिसन्ना ।।
भण कइसे काह्न नाहि ।
फरइ अनुदिन तैलोए पमाइ[538] ।।
मूढ़ा[539] अच्छन्ते लोअ ण पेखइ ।
दुध माझे लड़ नच्छम्ते देखइ ।।
भब जाइ ण आबइ एसु[540] कोइ ।
आइस[541] भाबे बिलसइ काह्लिल जोइ ।।

---

[537] मोहोहि, नीलरतन सेन ।

[538] समाइ, शाहिदुल्लाह ल

[539] मूटा, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[540] एथु, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[541] अइस, बागची और शाहिदुल्लाह ।

४३.

राग बंगाल । भुसुकुपादानाम ।

सहज महातरु[542] फरिअ ए[543] तैलोए ।
ख-सम सभाबे रे बाणत[544] मूका कोए ।।
जिम जले पाणिआ टालिआ भेउ न[545] जाअ ।
तिम मण-रअणा रे समरसे गअण समाअ[546] ।।
जासु नाहि अध्या तासु परेला[547] काहि ।
आइ अनुअना रे जाम-मरण-भब णाहि ।।
भुसुकु भणइ कट राउतु भणइ कट सअला एहा सहाब ।
जाइ ण आबयी रे ण ताहि[548] भाबाभाब ।

---

[542] सहजमहातरु, हरप्रसाद शास्त्री ।

[543] फरित्तए, नीलरतन सेन ,

[544] बान्धनत, शाहिदुल्लाह ।

[545] भेड़ न, हरप्रसाद शास्त्री ।

[546] समाइ, शाहिदुल्लाह ल

[547] अप्पा तासु परेला, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[548] ताही, बागची और शाहिदुल्लाह ।

४४.

राग मल्लारि । कंकणपादानाम ।

सुने सुन[549] मिलित्ता जबे ।
सअल धाम उइआ ताबे ।।
आछहू[550] चउखण सम्बोही ।
माझ निरोहे अनुअर[551] बोही ।।
बिदु-णाद[552] ण हिये पइठा ।
आण[553] चाहंते आण बिणठा ।।
जथा आइलेसि तथा जान[554] ।
माझा थाकि सअल बिहाण[555] ।।
भणइ कंकण कलएल सादे ।
सर्ब्ब बिचुरिल[556] तथता-नादे ।

---

[549] सुना, हरप्रसाद शास्त्री ।

[550] आच्छु हू, हरप्रसाद शास्त्री ल

[551] अणुतर, शाहिदुल्लाह ।

[552] बिन्दु णाद, हरप्रसाद शास्त्री । बीदु णाद, शाहिदुल्लाह ।

[553] अण, नीलरतन सेन ।

[554] जानी, नीलरतन सेन ।

[555] सअलबि हाँण, शाहिदुल्लाह ।

[556] सब्बबि चुरिल, शाहिदुल्लाह ।

४५.

राग मल्लारि । काह्नपादानाम ।

मण तरु पाँच इन्दि तसु साहा ।
आसा बहल पात फलाहा[557] ।।
बरगुरु बअणए कुठारे छिजअ[558] ।
काह्न भणइ तरु पुण न उइजअ ।।
बाढ़इ[559] सो तरु सुभासुभ पाणी ।
छएबइ बिदुजन गुरु परिमाणी ।।
जो तरु छएब-भएबउ न जाणइ ।
सअड़ि पअड़िअ[560] रे मूढ़[561] ता भब माणइ ।।
सुन तरुबर[562] गअण कुठार ।
छेबह सो तरु मूल न डाल ।।

---

[557] पातह बाहा, हरप्रसाद शास्त्री ।

[558] छिजइ, शाहिदुल्लाह ।

[559] बाटइ, हरप्रसाद शास्त्री ।

[560] पड़िआ, नीलरतन सेन ।

[561] मूट, नीलरतन सेन ।

[562] तरु, हरप्रसाद शास्त्री ।

४६.

राग शबरि । जयनन्दीपादानाम ।

पएखउ सुअणए[563] अदअश जइसा ।
अन्तराले मोहअ[564] तइसा ।।
मोहअ बिमुक्का[565] जअइ मअणा ।
तबे तूटइ अबणा गमणा ।।
नौ दाढ़इ नौ तिमइ न छिजइ[566] ।
पेखअ माआमोहे बालि बाझइ ।।
छाआ[567] माआ काआ समाणा ।
बएणी पाखे सोइ बिणा[568] ।।
चिअ तथाता-स्वभाबे षोहिअ ।
भणइ जाअनन्दी[569] फुड़ाअणा ण होइ ।।

---

[563] सुइणे, मुहम्मद शाहिदुल्लाह ।

[564] सोहब, बागची ।

[565] बिमुक्क, नीलरतन सेन ।

[566] च्छीजइ, शाहिदुल्लाह ।

[567] छाया, हरप्रसाद शास्त्री ।

[568] णाणा, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[569] जयनन्दी, शाहिदुल्लाह ।

४७.

राग गुर्जरि । धामपादानाम ।

कमल कुलिश माझे भइल[570] मिअली ।
समता जोऐ जलिल चण्डाली ।।
डाह डोम्बी घरे[571] लागेलि आगि ।
ससहर शलिलइ सिंचहू पाणी ।।
णउ[572] खरजाला[573] धुम ण दिषइ ।
मेरु शिखर लइ गअण पइसइ ।।
दिढ़इ[574] हरिहर बाह्म भरा[575] ।
फीटा[576] हइ नबगुण षासनपाड़ा ।।
भणइ धाम पुड़ा लेहु रे जाणी ।
पाँच नाले उठए गेलअ पाणी ।।

---

[570] भइ म, नीलरतन सेन ।

[571] डोम्बीघरे, नीलरतन सेन ।

[572] नउ, शास्त्री, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[573] खर जाला, नीलरतन सेन ।

[574] धाटइ, नीलरतन सेन ।

[575] भटार, प्रबोध चन्द्र बागची । भट्टा, शाहिदुल्लाह ।

[576] धिटा, नीलरतन सेन ।

४९.

राग मल्लारि । भुसुकुपादानाम ।

बाजअ णाबअ[577] पाड़ी पाउआ-खाले बाहिउ ।
अदअ बँगाले[578] देश लुड़िउ ।।
आजि भुसुकु[579] बंगाली भइली ।
निअ घरिणी चण्डाली लेली ।।
डहि जो[580] पाँच पाटण इम्दि बिसआ णठा।
ण जाणमि[581] चिअ मोर कही गइ पइठा ।।
सोण तरुआ[582] मोर किम्पि ण ठाकिउ ।
णिअ[583] परिबारे महा नेहे[584] थाकिउ ।।
चउकोडि भण्डार मोर लइआ सेस ।
जिबन्ते मइलऐ नाहि बिषेशा ।।

---

[577] राज नाब, हरप्रसाद शास्त्री ।

[578] बंगाअल, शाहिदुल्लाह ।

[579] भुसु, नीलरतन सेन ।

[580] डहिअ, बागची और शाहिदुल्लाह ।

[581] जानमि, शास्त्री और शाहिदुल्लाह ।

[582] सोण तोरुअ, शास्त्री । सोण त रूअ, बागची । सोण रूअ,शाहिदुल्लाह ।

[583] निअ, शास्त्री, शाहिदुल्लाह ।

[584] महासुहे, शास्त्री, बागची और शाहिदुल्लाह ।

५०.

राग रामक्रि । शबरपादानाम ।

गअणत गअणत तइला बाढ़ी[585] हेण्चे कुराढ़ी[586] ।
काण्ठे[587] नैरमणि बालि जागन्ते उपाढ़ी ।।
छाड्ठु छाड्डु[588] माआ-मोहा बिशामो[589] दुंदोली ।
महासुहे बिलसंति शबरो लइआ सुण मेहेली[590] ।।
हेरि शे मेरि तइला बाढ़ी ख-समे समतुला ।
सुकढ़ा ए से रे कपासु फुटिला ।।
तइला बाढ़िर पासैर जोहणा बाढ़ि उएला ।
फिटेलि अंधारी रे अकाश फुलिआ ।।
कंगुचिना[591] पाकेला रे शबर-शबरी मातेला ।
अणुदिन सबरो किम्पि न चेबइ महासुहे भेला ।।
चारिबासे ता भला रे दिऔ चण्चाली ।
ताहि तोलि शबरो दाह[592] कएला कान्दश सगुण शिआली ।।
मारिल भबमत्ता रे दहदिहे दिधलि बली ।
हेर से शबरो निरेबण भइला फिटिलि शबर आली[593] ।।

---

[585] बाढी, हरप्रसाद शास्त्री ।

[586] हिए कुराढ़ि, शाहिदुल्लाह ।

[587] काण्ठै, नीलरतन सेन ।

[588] छाड़ छाड़, शाहिदुल्लाह ।

[589] बिशाम, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[590] सुणमे हेलि, हरप्रसाद शास्त्री ।

[591] कन्गुरि, प्रबोध चन्द्र बागची ।

[592] शबरोहा, नीलरतन सेन ।

[593] सबराली, बागची और शाहिदुल्लाह ।

आधार ग्रन्थ :-

1. Harprasad Shastri, hajar bacharer purana bangala bhasay baudh gan o doha, Calcutta, 1916.
2. Prabodh Chandra Bagchi, 'material for a critical edition of the old Bengali charyapadas' (English and Bengali) journal of the department of letters, xxx, university of Calcutta, 1938.
3. Muhammad Shahidullah, Buddhist Mystic Songs (Eng. & Beng.) Indian Linguistics, Dacca, 1966 (1940).
4. Neelratan Sen, caryagitikos, Indian institute of advanced study, Shimla, 1977.

सहायक स्त्रोत (Secondary Sources)

हिन्दी

अग्रवाल, पुरुषोत्तम, 2010, अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन.

अरुण, योगेन्द्र नाथ शर्मा, 2012, पुष्पदंत, दिल्ली, साहित्य अकादमी.

अश्वघोष, बुद्धचरित, 2014, सम्पादक और अनुवादक, सूर्य नारायण चौधरी, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास.

अहमद, क़यामुद्दीन, 1992, सम्पादक, भारत - अलबरूनी, दिल्ली, एन० बी० टी०.

उपाध्याय, डॉ० नागेन्द्रनाथ, 1991, गोरखनाथ, दिल्ली, साहित्य अकादमी.

उपाध्याय, डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, 2009, बौद्ध कापालिक साधना और साहित्य, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन.

कविराज, गोपीनाथ, 1984, भारतीय साधना की धारा, पटना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्.

कोसाम्बी, धर्मानंद, 2011, भगवान बुद्ध जीवन और दर्शन, दिल्ली, साहित्य अकादमी.

ग्रामशी, अंतोनियो, 2012, सांस्कृतिक और राजनीतिक चिंतन के बुनियादी सरोकार, अनुवादक, कृष्णकांत मिश्र, दिल्ली, ग्रंथ शिल्पी.

चतुर्वेदी, परशुराम, 1969, उत्तर भारत की संत परम्परा, इलाहाबाद.

चंद्रिकेश, जगदीश, 2011, ही चो का यात्रा वृतान्त, आठवीं सदी का भारत, दिल्ली, एन० बी० टी०.

झा, डी० एन०, 2009, प्राचीन भारत एक रूपरेखा, दिल्ली, मनोहर.

तारानाथ, लामा, अनुवादक,1971, रिग्जिन लुंडुप लामा, भारत में बौद्ध धर्म का इतिहास, पटना, काशी प्रसाद जायसवाल शोध संस्थान.

द्विवेदी, मुकुंद, सम्पादक, 2007, हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, 11 खण्ड, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन.

धर्मरक्षित, डॉ० भिक्षु, 2014, सम्पादक, सुत्तनिपात, दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास.

बाशम, ए० एल०, 1956, अदभुत भारत, आगरा, शिवलाल अगरवाल एंड कम्पनी.

बोरा, राजमल, 1999, भारत की प्राचीन भाषायें, दिल्ली, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय.

मिश्र, डॉ० राधाकान्त, 1993, पूर्वी अपभ्रंश भाषा, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन.

वागर्थ, वासुदेव पाठक, 2014, आचार्य हेमचंद्र, दिल्ली, साहित्य अकादमी.
श्वेन त्सांग और प्येन ची, 2014, चीनी बौद्ध यात्रियों के यात्रा विवरण, महाथांग राजवंशकाल में पश्छिम की तीर्थयात्रा का वृतान्त, दिल्ली, सम्यक् प्रकाशन.
शर्मा, रामशरण, 2010, भारतीय सामन्तवाद, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन.
शर्मा, रामशरण, 2003, प्रारम्भिक भारत का सामाजिक और आर्थिक इतिहास, दिल्ली, हिंदी माध्यम कार्यानवय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय.
शर्मा, रामशरण, 2009, पूर्व मध्यकालीन भारत का सामंती समाज और संस्कृति, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन.
शर्मा, रामशरण, 2009, शुद्रों का प्राचीन इतिहास, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन.
शर्मा, रामशरण, 2011, भारतीय इतिहास एक पुनर्विचार, दिल्ली, हिंदी माध्यम कार्यन्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय.
शास्त्री, इंद्रचंद्र, 2010, पाली भाषा और साहित्य, दिल्ली, हिंदी माध्यम कार्यन्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय.
सराओ, के० टी० एस०, 2004, प्राचीन भारतीय बौद्ध धर्म : अद्भव स्वरूप और पतन, दिल्ली, हिंदी माध्यम कार्यन्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय.
सांकृत्यायन, राहुल, 2011, पाली साहित्य का इतिहास, लखनऊ, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान.
सांकृत्यायन, राहुल, 1927, पुरातत्व निबंधावली, इलाहाबाद.
सांकृत्यायन, राहुल, 1945, हिन्दी काव्यधारा, इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन.
सांकृत्यायन, राहुल, 2010, महामानव बुद्ध, दिल्ली, गौतम बुक सेंटर.
सांकृत्यायन, राहुल, तिब्बत में बौद्ध धर्म, इलाहाबाद, किताब महल, 2012.
साहा, रणजीत, 2003, महामति प्राणनाथ, दिल्ली, साहित्य अकादमी.
सिंह, नामवर, 2010, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, इलाहाबाद, लोकभारती.

ENGLISH

Abhinavagupta, (1921-38), Tantralok, 12 vols, Kashmir Sanskrit Text and Studies, Srinagar, Kashmir Government Publication.

Abhinavagupta, (1918), Tantrasara, Srinagar, Kashmir Sanskrit Text and Studies, Vol. - 7.

Avalon, Arthur, (Sir John Woodroffe), Mahanirvana Tantra, (The Great Liberation), Mdras Ganesh & Company, 1953.

Avalon, Arthur, (Sir John Woodroffe), Kularnava Tantra, Madras, Ganesh & Company, 1965.

Avalon, Arthur, (Sir John Woodroffe), Hym To Kali, (Karpuradi Stotra), Madras, Ganesh & Company. 1965.

Bagchi, P.C., Studies in Tantras, Calcutta University Press, 1939.

Bagchi, P.C., (1934), Kaulanjana-Nirvan anad some minor texts of the school of Matsyendranatha, Culcutta, Culcutta Sanskrit Series.

Bhattacharya, Benyotosh, An introduction to Buddhist Erotericism, Volume XLVI, Varanasi, Chowkhamba Sanskrit Series.

Bhattacharya, Benyotosh, (ed.), (1931), Guhyasamaj Tantra, Baroda, Gaekwad Oriental Series, XXVI & XLI.

Banerjee, Bishwanatha, (1993), Sri Kacara Tantra Raja, Culcutta, The Asiatic Society, 1Park Street.

Barua, Rai. K.L., (1993), Early history of Kamroop, Shilong.

Bhattacharya, B. (1988), The world of Tantra, Delhi, Munshiram Manoharlal.

Bose, D.N. and Haldar H.L., (1956), Tantras their philosophy and Occult Secrets, Culcutta, Oriantal Publishing House.

Bose, Manindra Mohan, (1930), The post Chaitanya sahajiya cult of Bengal, Culcutta, University Press.

Brigs, G.W., (1938), Gorakhnath and the kanphata yogis, London, Oxford University Press.

C. Sachau, Edward (ed.), (1983), Alberuni's India : An account of the religion, philosophy, literature, geography, chronology, astronomy, customs, laws nad astrology of India about A.D. 1030, New Delhi, reprint.

Carelli, Mario (ed.), (1941), Sekodessatika of Nadpada (Maropa), Baroda, Gaekwad Oriantal series.

Chakravarty, Chintaharan, (1963), The Tantras : Studies on their religion and literature, Culcutta, Punthi Pustaka.

Chakravorty, P.C. (1940), Doctrine of Sakti in Indian literature, Culcutta, General Printers and publishers.

Chaoudhary, Pandit B., (1963), Saktisadhana, Varanasi, Chowkhamba Sanskrit Series.

Coomarswamy, A.K., (1953), Elements of Buddhist Iconography, Massachusets, Cambridge.

Das, Sudhendu Kumar, (1934), Sakti on divine power, Culcutta, Culcutta University.

Dasgupta, S.B., (1950), An introduction to Tantric Buddhism, Culcutta.

Dasgupta, S.B., (1946), Obscure religious cults as Background of Bengali literature, Culcutta, University Press.

Dutta, M.M., Eng., Prose translation, (1900), Mahaparinirvana Tantra, Culcutta.

Fitzerald. Edward, (1958), The religions of Tibet, London, Allen and Unwin.

Guenther, H.V., (1963), The life nad teachings of Narpa, Oxford, Clarendon Press.

Gulia Leslie, Roy Porter and Mikulas Teich(ed.) , (1944), Some traditional Indian views on menstruation and female sexuality, sexual knowledge, sexual science : The history of Attitudes Sexuality, Cambridge.

Husain, Mahadi, translated, (1953), The Rehla of Ibna Batuta, Baroda.

Jaiswal, Suvira, (1963), The origin and development of Vaishnavism, Delhi, Motilal Banarasidas.

Jha, D.N.(ed.), (2000), The Feudal Order : State Society and Ideology in Early Mediaval India, New Delhi.

Keith, A.B., (1923), Buddhist philosophy in India and Cylone, Oxford.

Narayan, (1963), Tantra-Sar-Sangrah, Varanasi, Chowkhamba Sanskrit Series.

Pandey, G.C.(1993), Studies in Mahayana, Varanasi, Central institute of higher Tibetal studies, Sarnath.

Rai, Rajat Kant, (2001), Exploring emotional history: Gender, mentality nad literature in Indian awakening, New Delhi.

Rela, Vasant G., (1960), The mysteriases kundalini, Bombay, D.B. Taraporewala & sons.

Sacres book of the East series, Lotus of the sacred law. Vol. 21

Shah, V.P., (1947), A peep into the early history of Tantra in Jain literature, Allahabad, Bharat Koumudi, vol. 11.

Sharma, R.S., (1987), Urban decay in India, c.300 -c.1000, New Delhi.

Shastri, Harprasad, (1927), Adyavajra Samgraha, Broda, Gaekwad Oriantal Series.

Shastri , Harprasad, Bauddh Gaan O Doha, Bangiy sahitya parishad, Culcatta.

Shastri, Shiv Shankar Awasthi,(1966), Mantra aur Matrakon ka Rahasya, Varanasi.

Snellgrove, D.L., (1959), The Hevajra Tantra, Oup.

Suzuki, D. T., (1907), Outlines of Mahayana Buddhism, London.

Shea David and Anthony Troyer, (1901), The Dabistan or school of manners, Washington.

Wayman, Alexy, (1973), Buddhist Tantas, New York ! Samuel. Weiser.